Centre for CIVIL SOCIETY
Social Change through Public Policy

Azadi आज़ादी
www.azadi.me

NETWORK FOR A FREE SOCIETY

iea

सार्वजनिक चयनः एक प्रारंभिका

एमॉन बटलर

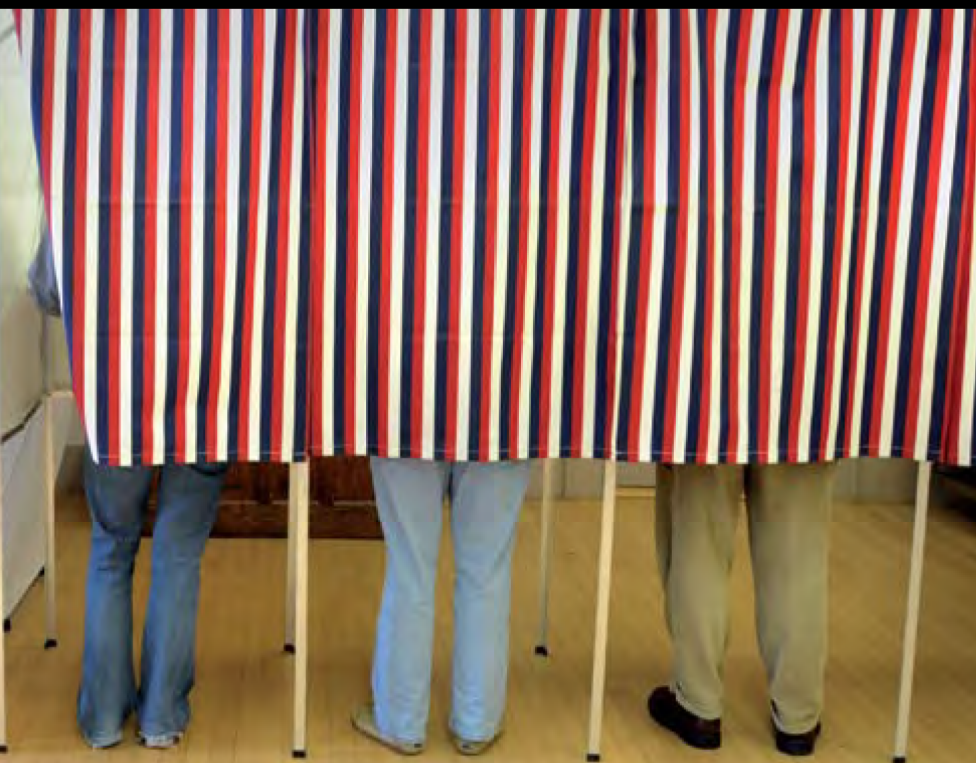

सार्वजनिक चयन: एक प्रारंभिका

एमॉन बटलर

iea
The Institute of Economic Affairs

पुस्तक का प्रथम प्रकाशन वर्ष 2012 में ग्रेट ब्रिटेन में
द इंस्टीट्यूट ऑफ इकोनॉमिक अफेयर्स द्वारा किया गया था
2 लॉर्ड नॉर्थ स्ट्रीट
वेस्टमिन्स्टर
लंदन एसडब्ल्यू1पी 3एलबी

द इंस्टीट्यूट ऑफ इकोनॉमिक अफेयर्स का मुख्य उद्देश्य एक मुक्त समाज में मौजूद संवैधानिक संस्थाओं के बारे में आम जन की समझ को बढ़ाना है। इसके लिए संस्थान आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को हल करने में बाजार की क्या भूमिका हो सकती है, उस पर खास तौर से तवज्जो देता है।

कॉपीराइट@ द इंस्टीट्यूट ऑफ इकोनॉमिक अफेयर्स 2012

पुस्तक के लिए लेखक के नैतिक अधिकारों को स्वीकृत किया गया है
सभी अधिकार कॉपीराइट कानून के तहत आरक्षित किए गए है। इसके तहत पुस्तक का कोई भी हिस्सा दोबारा प्रकाशित नहीं किया जा सकता है। साथ ही उसे डिजिटल फॉर्म या किसी दूसरी तरह (इलेक्ट्रॉनिक, फोटो कॉपी, रिकॉर्डिंग या अन्य तरीके) से संकलित नहीं किया जा सकता है। ऐसा तभी किया जा सकता है जब कॉपीराइट मालिक और किताब के पब्लिशर उसकी अनुमति दे।

सेंटर फॉर सिविल सोसायटी ने यह पुस्तक दोबारा द इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक अफेयर्स की सहमति से प्रिंट की है।

यह प्रकाशन नेटवर्क फॉर ए फ्री सोसायटी सोसायटी की साझेदारी में किया गया है।

टाइपसेटिंग मैकगुरू लिमिटेड द्वारा की गई है।
info@macguru.org.uk

अंतर्वस्तु

लेखक 09
आभारोक्ति 10
प्रस्तावना 11
सारांश 15

1. सार्वजनिक चयन क्या है ? 21
अर्थशास्त्र का प्रयोग क्यों? 21
राजनीति में अर्थशास्त्र को लागू करना 22
रुढ़िवादी सोच को सार्वजनिक चयन वाली चुनौती 24
सार्वजनिक या निजी हित? 26
मतदान का गणित 28
मतदान का फैसला 29
सार्वजनिक चयन की शक्ति 30

2. सार्वजनिक चयन - एक वृतांत 32
सार्वजनिक चयन सिद्धांत के आधुनिक अग्र-दूत 32
सार्वजनिक चयन सिद्धांत के आधुनिक विचारक 34
बुकानन और ट्यूलॉक 36
स्कूल और पुरस्कार 36
स्वहित साधक समूहों की शक्ति 37
नौकरशाही और नियमन 38
हाल फिलहाल के पुनर्विमर्श 39
नया दृष्टिकोण 41

3. सरकार की जरुरत किसे? 43
निर्णय निर्धारण की कीमत 45
संतुलन स्थापित करना 46
सरकार की असफलता 47
सार्वजनिक वस्तुओं का असमान वितरण 48
विस्तारवादी दबाव 49
इच्छा और परिणाम में सीधा संबंध नहीं 51

4. चुनाव जीतने के तरीके 53
मतदान और व्यवहार में विरोधाभास 53
अन्य चुनावी प्रणालियां 55
तर्कसंगत अनभिज्ञता 56
प्रयोजनयुक्त मतदान 58
मध्य की ओर झुकाव 59
तार्किक मतदाता का मिथक 61

5. अल्पमत समूहों का उत्पीड़न 63
संकेंद्रित और विस्तारित हित 63
हित साधक समूहों की राजनीति 65
संगठनात्मक समस्या 66
गठबंधन का निर्माण 67
गठबंधन का व्यवहार 68
गठबंधन से लेकर वोट की खरीद फरोख़्त तक 69

6. वोट का बाजारः खरीद फरोख्त 71
वोटों का अंतर्निहित और प्रत्यक्ष खरीद फरोख्त 71
वोटों की खरीद फरोख्त का प्रचलन 73
विधानमंडल में वोटों की खरीद फरोख्त 75

वोटों की खरीद फरोख्त का प्रभाव 77
वोटों के खरीद फरोख्त वाली प्रक्रिया की अन्य खामियां 78
वोटों की खरीद फरोख्त पर नियंत्रण 79

7. राजनैतिक लाभ: रेंट सीकिंग 81
रेंट सीकिंग का लोभ 82
लागत और उसका बिगड़ना 84
लागत का मूल्यांकन 86
राजनैतिक लागत 87

8. राजनीतिज्ञों को आर्थिक लाभ 88
जन प्रतिनिधि और हम 88
राजनेताओं की राजनैतिक कमाई 89
प्रयोजनयुक्त वोटिंग का नुकसान 90
राजनेताओं पर अंकुश 92

9. नौकरशाहों का प्रोत्साहन 95
अधिकारी और बजट 96
नौकरशाहों की शक्तियों के स्त्रोत 98
नौकरशाही पर कैसे लगे अंकुश 99
फिलहाल के प्रश्न 100

10. संविधान की भूमिका 102
निर्णय निर्धारण की लागत 103
संविधान के मूल तत्व 105
बुकानन का राजकोषिय संविधान 106
संघवाद 108
समस्या और सिद्धांत 109

11. उपलब्धियां और मुद्दे **111**
कुछ उपलब्धियां 111
स्वहित का प्रश्न 112
संवैधानिक मुद्दे 114
आत्मकेंद्रित सार्वजनिक चयन सिद्धांत 115

12. वर्तमान और भविष्य का रास्ता **118**
पुराने विचारों का दोबारा अध्ययन 120
दूसरी पीढ़ी के विमर्श 121
तीसरी पीढ़ी के विचारक 123
खेल का सिद्धांत 123
भविष्य की संभावनाएं 125

शब्दकोष 127
सार्वजनिक चयन सिद्धांत की समयावधि 132
अन्य अध्ययन 137

आईईए के बारे में **141**

सीसीएस के बारे में **150**

नेटवर्क फॉर ए फ्री सोसायटी के बारे में **150**

लेखक परिचय

एमॉन बटलर, अग्रणी थिंकटैंक एडम स्मिथ इंस्टिट्यूट के निदेशक हैं। बटलर ने अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान और दर्शन शास्त्र में डिग्री हासिल की है। साथ ही उन्होंने 1978 में यूनिवर्सिटी ऑफ सेंट एंड्रयूज से पीएचडी भी किया है। साल 1970 के दौरान उन्होंने यूएस में हाउस ऑफ रिप्रजेंटेटिव्स के लिए काम किया है। एडम स्मिथ इंस्टीट्यूट के गठन में सहायता करने के लिए यूके लौटने के पूर्व उन्होंने मिशिगन के हिल्सडेल कॉलेज में मनोविज्ञान के शिक्षक के रुप में भी काम किया है।

एमॉन ने प्रमुख अर्थशास्त्रियों मिल्टन फ्रीडमैन, एफ.ए.हायक और लुडविंग वॉन माइसेस पर किताबें लिखीं हैं और ऑस्ट्रियन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स पर एक किताब (प्राइमर) के लेखक हैं। द इंस्टीट्यूट ऑफ इकोनॉमिक अफेयर्स के लिए उन्होंने एडम स्मिथ और लुडविग वॉन माइसेस पर कई किताबें (प्राइमर) लिखीं हैं। इसके अलावा उन्होंने आईक्यू पर आधारित किताबों की श्रृंखला लिखी है और "ए हिस्ट्री ऑफ वेज एंड प्राइस कंट्रोल्स" के सह-लेखक हैं। उनकी हाल की चर्चित पुस्तकें "द बेस्ट बुक ऑन द मार्केट, द रॉटेन स्टेट ऑफ ब्रिटेन और द अल्टरनेटिव मेनिफेस्टो" रही हैं। इसके अलावा वह प्रिंट और टीवी न्यूज चैनलों को भी लगातार अपना योगदान देते रहे हैं।

आभारोक्ति

इस किताब का मसौदा तैयार करने में सहयोग करने के लिए सैली थॉमप्सन और रशेल मोरान का हम आभार व्यक्त करते हैं। साथ ही जॉन मीडोक्रॉफ्ट और चार्ल्स के. रॉले की सलाह और दृष्टिकोण के लिए भी शुक्रिया अदा करते हैं।

प्रस्तावना

एक हफ्ते के अंदर ब्रिटेन के प्रधानमंत्री ने दो महत्वपूर्ण बयान दिए है। जिसमें उनका कहना था कि बाजार की असफलता के कारणों की पहचान करना और उसे दुरुस्त करना सरकार का काम है। सरकार के इस रवैये की कई लोगों ने आलोचना की है। ऑस्ट्रियन समीक्षकों का कहना है कि बाजार प्रतिस्पर्धा के जरिए तैयार होता है, अगर बाजार में बेहतर प्रतिस्पर्धा मौजूद नहीं है तो हम यह नहीं समझ सकते है कि उसका बाजार पर क्या असर होगा? इसलिए सरकार बाजार की असफलता को दुरुस्त नहीं कर सकती है। वह केवल प्रतिस्पर्धा के रास्ते मे आ रहे अवरोधों को दूर कर सकती है। ऐसी धारणा है कि बाजार जब असफल होता है तो उसकी एक बड़ी वजह बाहरी कारक होते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि आपको ऐसे बाजार की जरूरत होती है जो इन बाहरी कारणों का मूल्यांकन कर सके। सरकार इन वजहों का अनुमान के जरिए नहीं पता कर सकती है।

ऐसे में इसे समझने का सबसे आसान तरीका सार्वजनिक चयन के सिद्धांत के जरिए सामने आया है। एक स्तर पर सार्वजनिक चयन सिद्धांत के अर्थशास्त्री, राजनीति में मानव व्यवहार को समझने के लिए ठीक वही तरीका अपनाते हैं, जिसे वह बाजार का विश्लेषण करते वक्त इस्तेमाल करते हैं। उदाहरण के लिए बाजार का एकाधिकार किताबों में वर्णित समस्याओं का उस वक्त तक कारण नहीं बनता है, जब तक कि ख़ुदग़र्ज मालिक ज्यादा से ज्यादा लाभ कमाने की कोशिश नहीं करते हैं। जब तक किसी शहर में एक आय वर्ग विशेष का उपभोक्ता कार्बनडाई ऑक्साइड के अधिकतम स्तर पर उत्सर्जित करने की कोशिश नहीं करता है, तब तक उस वक्त तक कोई समस्या नहीं आती है। इसी तरह बैंकों का डूबना उस वक्त तक चिंता की बात नहीं है, जब तक उनके जोखिम पर सरकार अपनी गारंटी नहीं बढ़ाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो अगर खुद़गर्ज

समूह बाजार में सक्रिय नहीं रहते हैं, तो बाजार की असफलता उन समस्याओं को नहीं बढ़ाती है, जिसे दूर करने की बात हमारे प्रधानमंत्री और दूसरे लोग कर रहे हैं। हो सकता है कि उनकी इस कवायद में दूसरी समस्याएं खड़ी हो जाएं।

लेकिन यदि अपना हित साधने वाले लोग बाजार में किन्हीं निश्चित परिणामों को बढ़ावा देते हैं और लोगों को लगता है कि इससे समस्या पैदा होती है और राजनीतिज्ञों को उसे ठीक करने की कोशिश करनी चाहिए, तो क्या यह भी नहीं मान लिया जाना चाहिए कि अपना हित साधने वाले वैसे ही लोग राजनैतिक व्यवस्था में भी मौज़ूद रहते हैं जो बाजार को ठीक करने का प्रयास करता है। जितनी जल्दी हम इस वास्तविकता को समझ लेंगे, उतनी जल्दी हम लोग यह भी समझ लेंगे कि सरकार को कहां पर हस्तक्षेप करना चाहिए। अगर ऐसा होता है तो लोगों की सोच में आया यह बदलाव बहुत बड़ा गेम चेंजर साबित हो सकता है। इसके बाद हम सरकार को सभी समस्याओं को दूर करने का जरिया मानना छोड़ देंगे। सरकार के फैसले राजनेताओं, मतदाताओं, नौकरशाहों और नियामाकों के उस समूह द्वारा प्रभावित होंगे, जिनके फैसलों में उनके हित जुड़े हुए है। क्या आपने कभी ऐसा देखा है कि किसी चुनाव क्षेत्र के मतदाता, दूसरे चुनावी क्षेत्र की स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार के लिए अपने क्षेत्र के अस्पताल को बंद कराने के लिए प्रदर्शन कर रहे हों।

राजनैतिक व्यवस्था में शामिल अपने हितों को साधने वाले लोग 'सरकार की असफलता' का कारण बनते हैं। चूंकि सरकार के पास असीमित शक्तियां है इसलिए यह 'बाजार की असफलता' से कहीं अधिक गंभीर मसला बन सकता है, क्योंकि सरकार प्रत्यक्ष प्रतिस्पर्धा वाली प्रक्रिया का हिस्सा नहीं है। जन प्रतिनिधित्व वाले लोकतंत्र में अपना हित साधने वाले संख्या में कम होने के बावजूद फैसला लेने की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं जो बहुसंख्यक लोगों के हित में नहीं हो। इस पर निश्चित तौर पर बहस होनी चाहिए। उदाहरण के तौर पर यूनाइटेड किंगडम की संसद में स्कॉटिश सदस्य और हीथ्रो एयरपोर्ट के आसपास के संसद के दूसरे सदस्यों को हाल फिलहाल अपार शक्तियां प्राप्त हुई हैं। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि उनके साथ आने से ही संसद में बहुमत का आंकड़ा पाया जा सका है।

जब मेरे पूर्ववर्ती आर्थर सेल्डन ने यूनाइटेड किंगडम की राजनीति पर "द

इकोनॉमिक्स ऑफ पॉलिटिक्स" किताब लिखी, उस समय से अब तक सार्वजनिक चयन के अर्थशास्त्र ने लंबा सफर तय किया है। अब कई विश्वविद्यालयों के विभागों में सार्वजनिक चयन को एक विषय के रूप में पढ़ाया जा रहा है, साथ ही इस पर कई जर्नल भी निकल चुके हैं। ट्यूलॉक और बुकानन व अन्य विद्वानों द्वारा दिए उल्लेखनीय योगदान के साथ-साथ लोगों की सोच में भी काफी बदलाव आया है। जैसे कि टेलिविजन धारावाहिक यस मिनिस्टर और यस प्राइम मिनिस्टर इसके बढ़ते प्रभाव का नतीजा है। ऐसे में यह जरूरी हो गया है कि द इंस्टीट्यूट ऑफ इकोनॉमिक अफेयर्स जन इच्छा के संबंध में अभी तक के प्रयासों को संकलित कर एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित करें जिससे वह बड़ी संख्या में पाठकों तक पहुंच सके।

एमॉन बटलर की उल्लेखनीय किताब (प्राइमर), छात्रों, शिक्षकों और मत निर्माताओं आदि के लिए काफी कारगर साबित होगा। इसके अलावा यह किताब उन राजनेताओं और नियामकों के लिए भी कारगर होगा जो सरकार की सीमाओं पर उदारतापूर्वक अध्ययन करना चाहते हैं। यह किताब अपने हित साधने वाले समूहों के राजनीतिक प्रणाली में होने वाले असर और सरकार की नीतियों पर पड़ने वाले प्रभावों की व्याख्या करती है। किताब यह रास्ता भी दिखाती है कि कैसे राजनीतिक व्यवस्था में बदलाव कर सरकार के काम-काज को संतुलित किया जा सकता है साथ ही उस पर अंकुश लगाया जा सकता है। यह उन तरीकों का परीक्षण भी करता है जो सरकार के निर्णय लेने के कार्य को वहां पर सीमित कर सके जहां पर सामूहिक तौर पर फैसले लेने की जरुरत हो। यह अत्यंत आवश्यक है कि इस मुद्दे को बेहतर ढंग से समझा जाए ताकि सरकार को अधिक उदारता और राजनैतिक व्यवस्था को बेहतर ढाँचा प्रदान किया जा सके।

क्योंकि यह मुद्दे अब काफी प्रासंगिक हो चुके हैं। उदाहरण के तौर पर स्कॉटलैंड समझौते के तहत हुए नुकसान के बदले में हस्तांरित किए जाने वाले कर को समझना भी आज की जरूरत है। क्योंकि इसके जरिए यूरोपीय संघ के काम-काज को समझने में मदद मिलती है। ऐसे में उम्मीद है कि यह किताब सरकार के काम-काज के तरीकों को व्यापक रूप में समझने में मदद करेगी। और इसके बदले में हमें उम्मीद है कि ऐसी सरकारें जो हर तरफ बाजार की असफलता को देखती हैं और उसे खुद के द्वारा सुधारने की उम्मीद करती है,

उनकी संख्या कम होगी।

जन इच्छा पर एमॉन बटलर की किताब एक बेहतरीन किताब है, जो बहुत ही जटिल विषय को आसान तरीके से पाठकों के बड़े समूह तक पहुंचाने का काम करेगी।

द इंस्टीट्यूट ऑफ इकोनॉमिक अफेयर्स इस किताब को प्रकाशित करते हुए काफी खुशी महसूस कर रहा है।

फिलिपबूथ
एडिटोरियल एंड प्रोग्राम डायरेक्ट
इंस्टीट्यूट ऑफ इकोनॉमिक अफेयर्स
प्रोफेसर ऑफ इन्श्योरेंस एंड रिस्क मैनेजमेंट
केस बिजनेस स्कूल
जनवरी 2012

इंस्टीट्यूट ऑफ इकोनॉमिक अफेयर्स द्वारा प्रकाशित इस किताब में लेखकों के जो विचार दिए गए हैं, वह इस संस्थान (कंपनी), उसके संरक्षकों और अकादमिक सलाहकार परिषद या किसी वरिष्ठ कर्मचारी के नहीं है।

सारांश

- सार्वजनिक चयन में हम राजनीति और सरकार के सैद्धांतिक और व्यवहारिक फैसलों को समझने के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धांत को लागू करते हैं। इसके जरिए हमें लोकतांत्रिक प्रक्रिया में फैसले लेने की प्रवृत्ति के अहम पहलू पता चलते हैं।
- जिस प्रकार स्वहित लोगों को निजी और वाणिज्यिक फैसले लेने के लिए प्रेरित करता है ठीक उसी प्रकार यह लोगों के सामुदायिक निर्णयों को भी प्रभावित करता है। लोग वोटर, लॉबिंग समूह, राजनेता, नौकरशाह को फायदे-नुकसान के नजरिए से देखते हैं, जिससे कि उनका ज्यादा से ज्यादा फायदा हो सके। परिणाम स्वरूप अर्थशास्त्र में इस्तेमाल होने वाले शब्दकोश जैसे फायदा, नुकसान, कीमत, दक्षता आदि राजनीति में भी इस्तेमाल होने लगते हैं।
- कुछ क्षेत्रों में सामूहिक फैसले आवश्यक होते है। हालांकि यह भी हकीक़त है कि कई बार बाजार समान मौके उपलब्ध नहीं कराते हैं लेकिन इसका मतलब यह नही है कि बाजार की तुलना में सरकार कहीं ज्यादा अच्छा काम करेगी। सरकारें भी असफल होती है। राजनैतिक निर्णय निर्धारण की प्रक्रिया जनहित के प्रति उदासीन नहीं होती है लेकिन यह विभिन्न लोगों और समूहों के हितों के बीच संघर्ष में अवश्य शामिल कर सकती है।
- यह भी सच है कि जन हित को केवल एक नज़रिये से नहीं देखा जाता है। हम एक ऐसे बहुलतावादी समाज में रहते हैं, जिसमें हर समाज के अपने मूल्य होते हैं। ऐसे में अलग-अलग व्यक्ति या समूह के हित भी अलग होते हैं। प्रतिस्पर्धियों के बीच प्रतिस्पर्धा स्वाभाविक है। ऐसे में यह जानना काफी अहम हो जाता है कि इन संघर्षों को राजनीतिक प्रक्रिया के जरिए कैसे दूर

किया जा सकता है।

- राजनीतिक दलों का सबसे अहम हित यही होता है कि वह कैसे वोट हासिल कर सत्ता की कुर्सी तक पहुचें और रुतबे वाले पद हासिल करें। इसके लिए वह ऐसे वोटर को सबसे ज्यादा प्रभावित करने की कोशिश करते हैं जो मीडियन (किसी एक खास विचारधारा से प्रभावित नहीं होता है, उसका रूख लचीला रहता है) होता है। क्योंकि इनकी संख्या सबसे ज्यादा होती है, ऐसे में इन्हें प्रभावित कर बहुमत जुटाना आसान होता है। इसी तरह नौकरशाहों का अपने विभाग के लिए जयादा से ज्यादा बजट आवंटित कराना प्रमुख हित होता है।
- अपने हितों को साधने के लिए हो रहे इस संघर्ष में छोटे समूह जो अपने उद्देश्य को लेकर काफी सजग रहते हैं, फैसले लेने की प्रक्रिया पर कहीं ज्यादा प्रभाव डालते हैं। उसकी तुलना में बड़ा समूह असंगठित और बिखरा हुआ होता है जैसे कि उपभोक्ता और करदाता। परिणाम स्वरूप छोटे समूहों का प्रभाव कहीं ज्यादा बढ़ जाता है। इसका कारण यह है कि मतदाता राजनैतिक बहसों से तार्किक रूप से अनभिज्ञ होता है और उन्हें लगता है कि उनके एक वोट से बहुत ज्यादा फर्क नहीं पड़ेगा और न ही भविष्य की नीतियों पर कोई प्रभाव डाल सकता है।
- राजनीतिक तरीके से असीमित फायदे उठाए जा सकते हैं। इसे देखते हुए अपना हित साधने वाले समूह या लॉबिंग समूह बड़ी मात्रा में धनराशि भी खर्च करते हैं, जिससे कि उन्हें विशेष दर्जा मिला रहे। इस प्रक्रिया को रेंट सीकिंग (फैसलों के जरिए आर्थिक फायदा या सब्सिडी का लाभ मिलता है) कहा जाता है।
- हितों को प्रभावित करने वाले समूह एक कदम और आगे बढ़कर वोट के सौदे करने लगते हैं। जिसे लॉग रोलिंग कहा जाता है। इसके तहत एक-दूसरे का समर्थन हासिल करने के लिए वोट के सौदे किए जाते हैं। इन कारणों से अल्पमत समूह, जन प्रतिनिधि वाली लोकतांत्रिक प्रणाली में कहीं ज्यादा शक्तिशाली हो जाता है। सांसद, चुने हुए प्रतिनिधि इसकी शक्तिशाली समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं।

- प्रत्यक्ष लोकतांत्रिक प्रणाली में फैसले के लिए जनमत का सहारा लिया जाता है। इसके तहत 51 फीसदी मत वाले समूह , 49 फीसदी मत समूह पर अपनी इच्छाएं थोपते या यू कहें कि उनका शोषण करते हैं। लोकतंत्र को लेकर एक पुराना मजाक काफी प्रचलित है कि "दो भेड़िए और एक भेड़ को यह तय करने के लिये कहा जाता है कि आज रात खाने में कौन किसे खाएगा"। प्रतिनिधित्व वाले लोकतंत्र में छोटे समूह वाले वोटर अत्यधिक प्रभाव पैदा करते हैं।
- ऐसे में कहीं पर अल्पमत समूह शोषित किए जाते हैं तो कहीं पर अल्पमत समूह बहुमत वाले समूह का शोषण करता है। इसी वजह से कई सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारकों ने राजनीतिक प्रक्रिया के तहत लिए जाने वाले फैसलों को संवैधानिक नियमों के तहत नियंत्रित करने को जरूरी बताया है।

सार्वजनिक चयन - एक प्रारंभिका

1. सार्वजनिक चयन क्या है?

सामान्य तौर सार्वजनिक चयन (जन इच्छा) को अर्थशास्त्र का विषय माना जाता है। लेकिन वास्तव में यह अर्थशास्त्र की तुलना में कहीं ज्यादा राजनीति विज्ञान के करीब है। सार्वजनिक चयन यह कभी भी यह बताने की कोशिश नहीं करता है कि अर्थव्यवस्था कैसे काम करती है। बल्कि अर्थशास्त्र की विधियों और तरीकों का इस्तेमाल कर वह यह बताने की कोशिश करता है कि राजनीति और सरकार कैसे काम करती हैं। सार्वजनिक चयन, एक नज़रिया है जो आश्चर्यजनक विचारों को जन्म देता है और चुनौतिपूर्ण सवाल खड़े करता है - जैसे कि राजनैतिक प्रक्रिया वास्तव में कितनी दक्ष, प्रभावकारी और वैध है।

अर्थशास्त्र का प्रयोग क्यों?

राजनीति और सरकार के व्यवहार के विश्लेषण के लिए अर्थशास्त्र का प्रयोग अजीब प्रतीत हो सकता है। आम तौर पर लोगों की अर्थशास्त्र को लेकर यही सोच है कि इसके जरिए बाजार, व्यापार और निजी लाभ आदि की बात होती है। इसी तरह माना जाता है कि सरकार का उद्देश्य सभी के हितों के लिए गैर वित्तीय और गैर लाभाकारी तरीके से काम करना है।

लेकिन अर्थव्यवस्था का संबंध केवल पैसे से नहीं है। अर्थशास्त्र शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द ऑइकोनोमिया से हुई है। जिसका अर्थ घरेलू चीजों का प्रबंधन करना है। यह प्रबंधन वित्तीय फायदे के लिए नहीं किया जाता है बल्कि इसका उद्देश्य परिवार को सुख-शांति से जीवन व्यतीत करने के लिए किया जाता है और जिसमें वित्तीय और सामाजिक संतुलन बनाने के लिए विभिन्न कारकों को इस्तेमाल होता है।

हर रोज हम एक ही जैसा जीवन जीते हैं। क्या पर्वत के उस पार का नज़ारा

इस लायक होगा जिसे देखने के लिए पहाड़ चढ़ने का यत्न सुफल हो? इसी तरह अपने दोस्त के जन्मदिन पर एक उपयुक्त कार्ड खरीदने के लिए हमें कितना समय लगाना चाहिए? ये मामले पैसों से संबंधित नहीं हैं, फिर भी वृहद मायनों में दुनिया ये फैसले लाभ हानि (किफायत) की दृष्टि के तहत लेती है। क्योंकि दुनिया इन फ़ैसलों का मापन लक्ष्य हासिल करने के दूसरे तरीकों और उसमें लगे समय के आधार पर करती हैं। असल में किसी भी लक्ष्य को हासिल करने के लिए हम कौन सा संसाधन इस्तेमाल करते हैं, उसे पूरा करने में कितना समय लगता है, उस नज़रिए से अर्थशास्त्र किसी भी प्रयास को देखता है। इससे एक बात और स्पष्ट होती है कि अर्थशास्त्र किसी भी प्रयास को केवल वित्तीय नजरिए से नहीं देखता है।

अर्थशास्त्रियों ने इन पहलुओं को समझने के लिए कई सारे तरीके ईजाद किए हैं। अपनी संकल्पनाओं में उन्होंने इसे अवसर की लागत (वह लागत है जो किसी चीज को हासिल करने के लिए आप त्याग करने को तैयार रहते हैं जैसे कि समय और श्रम) और लाभ (जो कुछ भी आप हासिल करते हैं जैसे कि उपयुक्त जन्मदिन का कार्य या शानदार दृश्य)। इस प्रकार, किसी चीज का त्याग कर बदले में हासिल की जाने वाली वस्तु से प्राप्त संतुष्टि को लाभ कहा जा सकता है। किंतु त्याग की गई वस्तु के बदले में हासिल चीज यदि आपकी उम्मीदों के अनुसार नहीं हुई तो यह आपकी हानि होगी। जैसे कि यदि समय खर्च करने के बावजूद यदि सुंदर जन्मदिन कार्ड प्राप्त नहीं होता है या पहाड़ी पर चढ़ाई में लगने वाले प्रयास की तुलना में दिखने वाला दृश्य उम्मीदों के मुताबिक नहीं होना हानि के समान होगा। अर्थशास्त्रियों के अनुसार जब कोई व्यक्ति किसी विषय पर फैसला करता है, तो उसके फायदे और नुकसान का भी मूल्यांकन करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो ऐसा करने वाले फैसले तार्किक और अपने हितों के लिए होते हैं।

राजनीति में अर्थशास्त्र को लागू करना

सार्वजनिक चयन में अर्थशास्त्र की उन साधारण संकल्पनाओं को शामिल किया जाता हैं जो यह बताते है कि सामूहिक फैसले किस आधार पर लिए जाते है। इन संकल्पनाओं को संविधान की रूपरेखा और कार्य प्रणाली तय करने, चुनावी

प्रणाली, राजनीतिक दलों, ब्यूरोक्रेसी, हित साधकों, संसद, समितियों, लॉबिंग समूह और सरकार के दूसरे तंत्र में शामिल किया जा सकता है। जैसे कि नई सड़क बनाने के लिए संपत्ति कर में बढ़ोतरी का फैसला सामूहिक मत के आधार पर लिया जाए। वैसे तो यह एक राजनीतिक फैसला है लेकिन दूसरे नजरिये से देखे तो यह केवल एक आर्थिक फैसला है। लेकिन सामूहिक इच्छा के अनुसार देखा जाए तो इस फैसले में लागत और लाभ आधारित सहमति भी शामिल है। और गहराई से देखा जाए तो लक्ष्य को पाने के लिए जो त्याग किया गया और बदले में जो हासिल हुआ, वहीं अहम है।

हालांकि इसमें एक पेंच भी है। जब कोई फैसला आर्थिक आधार पर लिया जाता है तो व्यक्ति उसको लागू करने में लगे समय सहित दूसरी लागत और उससे होने वाले लाभ को देखता है [1]। वहीं जब यह फैसला जन इच्छा के आधार पर लिया जाता है, तो सड़कें बनने से जो लोग (सड़क का उपयोग करने वाले) उसका फायदा उठाएंगे, उन पर सीधे तौर पर सड़क बनाने की लागत का बोझ नहीं आता है। बल्कि उसकी लागत सड़क के आस-पास रहने वाले गृह मालिकों को उठानी पड़ती है। बाजार में होने वाली लेन देन की प्रक्रिया में शामिल दोनों पक्षों का सहमत होना आवश्यक होता है। क्रेता अथवा विक्रेता दोनों में से यदि एक भी यदि प्रक्रिया से संतुष्ट नहीं हो तो उनके पास डील से बाहर निकलने का विकल्प होता है। लेकिन राजनीति में अल्पमत वालों के पास बाहर निकल जाने का विकल्प नहीं होता है और उनके पास बहुमत की विचारधारा के साथ चलने के अलावा कोई विकल्प नहीं बचता है। ऐसे में अल्पमत वालों को अपनी इच्छा के विपरीत सामूहिक मत के साथ चलना पड़ता है।

दुख की बात यह है कि ऐसे बहुमत वाले लोग जो केवल निजी हितों को ध्यान में रखते हैं, उनके द्वारा बहुमत के नाम पर अल्पसंख्यकों का शोषण करने का मौका मिल जाता है। वे सार्वजनिक सुविधाओं का भोग करते हैं और उसका वित्तीय भार अन्य लोगों पर डाल दिया जाता है। जनता की इच्छा के विपरीत उन

1. निश्चित तौर पर इस तरह के आर्थिक फ़ैसलों के वाह्य और सामाजिक लागत और फायदे हैं। लेकिन लेनदेन के अधिकांश मामलों में ये फायदे कुल लागत की तुलना में बेहद कम होते हैं। जहां ये फायदे अधिक होते हैं, उन मामलों में सरकार हस्तक्षेप भी करती है। हालांकि, सार्वजनिक चयन के आर्थिक सिद्धांत के जरिए हम यह जल्द ही स्पष्ट हो जाता है कि सरकार द्वारा लिए गए फैसलों की कीमत किसे चुकानी पड़ती है और इसका फायदा किसे मिलता है।

पर कैसे बोझ डाला जा सकता है, वह सड़क निर्माण के उदाहरण से समझा जा सकता है। हो सकता है कि सड़क का इस्तेमाल करने वाले लोगों की इच्छा राजमार्ग बनवाने की हो। लेकिन ऐसा करने के लिए न केवल बागीचों को काटना होगा बल्कि दूसरे लोगों पर कर का बोझ भी बढ़ेगा। लेकिन शायद कुछ ऐसे भी लोग होंगे जिन्हें इस राजमार्ग के निर्माण से कोई फायदा नहीं पहुंचे और वह इसका इस्तेमाल ही नहीं करे। लेकिन फिर भी उन्हें कर देना होगा। ऐसे में यह अध्ययन उसी महत्ता को बताता है, कि कैसे कोई सरकार बहुमत की आड़ में अल्पसंख्यकों पर उनकी इच्छा के विपरीत फैसले थोप सकती है। हो सकता है कि बहुमत के साथ सरकार पर जिम्मेदारी का भी दबाव होता है लेकिन यह भी हो सकता है कि सरकार मिले वोटों के आधार पर बहुमत को ऐसे फायदे दिलाए, जिसकी कीमत दूसरे लोगों को चुकानी पड़े।

वैसे तो आर्थिक सिंद्धात का इस्तेमाल कर हम यह जान सकते हैं कि सरकारें कैसे फैसले करती हैं। लेकिन "सार्वजनिक चयन" सिद्धांत के जरिए हम फैसले लेने की प्रक्रिया को समझ सकते हैं। मसलन किसी समस्या की पहचान करने में किसी समूह के अपने हित क्या हैं, उसके जरिए कैसे अल्पसंख्यकों का शोषण हो सकता है। यही नहीं सार्वजनिक सिद्धांत के जरिए हम फैसले की इन खामियों को कैसे रोक सकते हैं, उसका भी सुझाव दिया जा सकता है।

सार्वजनिक चयन की इस अहम भूमिका को समझाने के लिए अमेरिका के अर्थशास्त्री जेम्स एम. बुकानन को आर्थिक क्षेत्र के लिए 1986 में नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। बुकानन ने अपने सिद्धांत के जरिए चुनावी प्रक्रिया में होने वाले शोषण, राजनेताओं और नौकरशाहों के निजी हित, अपने हितों को साधने के लिए कार्यरत हित समूहों और सार्वजनिक नीति निर्धारण की प्रक्रिया पर पड़ने वाले कुप्रभावों को सीमित करने में संवैधानिक रुकावटों की भूमिका आदि की व्याख्या की।

रुढ़ीवादी सोच को सार्वजनिक चयन वाली चुनौती

युद्ध के बाद कल्याणकारी विचारधारा की सोच रखने वाले अर्थशास्त्रियों ने नई सड़कों अथवा हवाई अड्डों के निर्माण के नीतिगत प्रस्तावों में लागत और उससे होने वाले फ़ायदों और उससे पहुंचने वाले सामाजिक लाभ को आंकने की पुरजोर

कोशिशें की। सामाजिक लाभ को समुदाय के स्तर पर कैसे बढ़ाया जाए और उसका अधिकतम लाभ लोगों तक कैसे पहुंचे इसके लिए बेहतर नीतियां बनाई जा सके। उन्हें ऐसी उम्मीद थी कि इन तरीकों से जन नीतियां बेहतर होंगी। अर्थशास्त्रियों को उम्मीद थी कि ऐसी योजनाएं सार्वजनिक निर्णय निर्धारण के कार्य को बेहतर बनाएंगी और जागरुकता बढ़ाएंगी।

हालांकि, इस दृष्टिकोण की एक मुख्य और अघोषित मान्यता यह थी कि प्रबुद्ध और निष्पक्ष अधिकारियों के द्वारा ऐसे नीतिगत निर्णय तर्क और विवेक के आधार पर लिये जाएंगे जो जनहित को बढ़ावा देंगे। ऐसे निर्णय बाजार द्वारा उपलब्ध कराये जाने वाले विकल्प से कहीं अधिक उत्कृष्ट होंगे क्योंकि बाजार स्वहित और निजी लाभ के लिए किये जाते हैं।

सार्वजनिक चयन ने इस मान्यता को भी खंडित कर दिया। इसने स्वीकार किया कि सामूहिक फैसले ऐसे मामलों में आवश्यक हो जाते हैं जिनमें सामुदायिक कार्रवाई की जरूरत पड़ती है। लेकिन इसने एक बार फिर साबित किया कि निर्णय लेने की उक्त प्रक्रियायें, कल्याणकारी विचारधारा वाले अर्थशास्त्रियों के लक्ष्य को हासिल करने में सफल नहीं रहीं। सार्वजनिक चयन के सिद्धांत की पैरवी करने वाले विशेषज्ञों के मुताबिक कि वे लोग जो सार्वजनिक फैसले लेते हैं, वास्तव में उतने ही स्वहित से प्रेरित होते हैं जितना कि कोई और होता है। आखिरकार वे भी तो वही लोग हैं और सरकारी नौकरी मिलते ही अचानक से फरिश्ते तो बन नहीं सकते। सार्वजनिक चयन की सिद्धांत आवश्यक रूप से यह नहीं कहता कि सरकारी नीतियों को प्रभावित करने वाली गतिविधियाँ सदैव निजी हित से ही प्रेरित होती हैं। बल्कि हमें किसी व्यक्ति से यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि वह बाजार से वस्तुओं या सेवाओं को हासिल करते समय जैसा व्यवहार करता है, वह सरकारी नीतियां बनाते वक्त उससे अलग व्यवहार करे। हां यह कहना गलत नहीं होगा कि निजी हित लोगों को प्रोत्साहित अवश्य करता है।

बेशक, अपने हितों को ध्यान में रखने वाले लोग हमेशा स्वार्थी नहीं होते हैं। संभव है कि वह दूसरे लोगों के हितों के बारे में सोचते हों, वे सिर्फ अपना भला करने की बजाए अपने दोस्तों, परिवार और समुदाय के लोगों की मदद करते हो। लेकिन अहम बात यह है कि वे चाहें अपनी संपत्ति में इज़ाफा करना चाहते हों या

समुदाय में सौहार्द बढ़ाना चाहते हों, वो जो कुछ भी हासिल करना चाहते हों, ये मानना पड़ेगा कि उसके लिए वे पक्के इरादे के साथ प्रभावशाली ढंग से कार्य करते हैं जिससे कि वे उसमें वृद्धि कर सकें। अर्थशास्त्रियों के शब्दों में उन्हें तर्कसंगत अधिकतम कर्ता (रैशनल मैक्सिमाइज़र) कहते हैं।

परंपरागत अर्थशास्त्री उस समय आश्चर्य में पड़ गए जब उन्होंने बुकानन और उनके सह-लेखक गॉर्डन ट्यूलॉक को इस मानवीय 'आर्थिक' दृष्टिकोण को व्यवस्थित तरीके से सरकारी संस्थाओं के माध्यम से लागू करते और कानून निर्माताओं, अधिकारियों और मतदाताओं सभी को अपने निजी हितों को राजनैतिक प्रक्रियाओं के माध्यम से बढ़ावा देने का सुझाव देता देखा। ठीक वैसे ही जैसा वे बाजार में करते हैं। परंपरागत अर्थशास्त्रियों के लिए इससे भी ज्यादा आश्चर्यजनक उनका यह निष्कर्ष था कि सार्वजनिक हितों के नाम पर लिये जाने वाले राजनैतिक निर्णय कुशलताविहीन और उत्साहविहीन तरीके से लिये जाते हैं और ये कथित तौर पर बेकार बाजार आधारित प्रक्रिया की तुलना में कम कुशल, कम तार्किक और निहित स्वार्थों के तहत हेरफेर से अधिक प्रभावित होने हैं।

सार्वजनिक या निजी हित ?

सार्वजनिक चयन इस बात की भी पड़ताल करता है कि कैसे किसी एक व्यक्ति का प्रभाव सामूहिक फ़ैसलों को प्रभावित करता है। यह अध्ययन इस बात को खारिज करता है कि राजनीति हमेशा जनहित पर जोर देती है।

शुरूआती तौर पर यह देखते हैं कि जनहित का संभावित मतलब क्या है? मान लीजिए एक बड़ा समूह यह चाहता है कि उनके इलाके में नई सड़क बन जाए, वहीं दूसरा समूह इस फैसले का विरोध करते हुए टैक्स दरों में कटौती की मांग करता है। जबकि तीसरा समूह चाहता है कि सरकार पैसों का इस्तेमाल रक्षा क्षेत्र में करें, इसी तरह चौथा समूह चाहता है कि सरकार इन सब प्रस्तावों की जगह अस्पताल खोले और पांचवा समूह स्कूल बनाने और जन कल्याणकारी योजनाओं में खर्च की मांग करता है, तो साफ है कि ऐसे में जनहित की कोई ऐसी

नीति तैयार करना जो सभी को मंजूर हो, संभव नहीं दिखती है। आज हम ऐसे दौर में जी रहे हैं, जहां मूल्य बहुलतावादी विचार रखने वाले लोगों की संख्या कहीं ज्यादा है, और जहां तक सरकारों के द्वारा लिये जाने वाले आर्थिक फैसलों का संबंध हैं, लोग अलग अलग वस्तुओं और सेवाओं का मोल अलग अलग निकालते हैं। ऐसे में अलग-अलग लोगों के अलग अलग हितों का टकराव होगा और 'जनहित' वाले मुद्दे पर सहमति बनना संभव नहीं है।

यह 'एक भेंड़ और दो भेड़ियों' वाली समस्या है। एक पुराना चुटकुला है कि लोकतंत्र उस एक भेड़ और दो भेड़ियों के जैसा है, जहां यह तय होता है कि आज रात के भोजन में कौन किसे खाएगा। यह एकदम तय है कि विरोधाभासी विचार वाले लोग कभी भी कोई ऐसा रास्ता तैयार नहीं कर सकते हैं, जो जन कल्याणकारी हो। इसी आधार पर सार्वजनिक चयन सिद्धांत की पैरवी करने वाले बुद्धिजीवियों ने यह बताया है कि कैसे जन कल्याणकारी अर्थशास्त्रियों ने उस अहम पहलू की अनदेखी कर दी, जिसमें वह यह समझ ही नहीं पाए कि कोई भी फैसला जब लिया जाता है तो उसमें केवल व्यक्तिगत हित का प्रभाव होता है, उसमें सामूहिक हित की कोई जगह नहीं होती है। क्योंकि किसी भी मुद्दे पर व्यक्ति के ही अपने हित, विश्वास और मूल्य होते हैं। समूह का कभी भी कोई हित, विश्वास और मूल्य नहीं होता है। समूह में उन्हीं लोगों के हित, विश्वास और मूल्य शामिल होते हैं, जो प्रभावशाली लोगों के प्रभाव के आगे अपने हित, विश्वास और मूल्यों का समझौता कर लेते हैं। उदाहरण के तौर पर वोट देते समय व्यक्ति फैसला करता है कि उसे किसे वोट देना है, कभी भी समूह तय नहीं करता है कि वह किसे वोट देगा और न ही समूह एक साथ वोट देने मतदान केंद्र पर जाता है।

इस प्रकार, सार्वजनिक चयन के अनुसार वोट डालना और कानून बनाने की प्रक्रिया में हमेशा व्यक्ति अपनी बात को आगे बढ़ाता है। जो कि अकसर हितों के आधार पर मतभेद पैदा करता है। ऐसे में किसी भी प्रकार का वस्तुनिष्ठ सामुदायिक 'जनहित' मौजूद नहीं रहता है और मतदान किसी न किसी तरह इसका खुलासा कर ही देता है। दरअसल, फैसले लेने के अलग-अलग तरीके पूरी तरह से अलग जन इच्छा को सामने लाते हैं।

उदाहरण के तौर पर सामान्य लोकतांत्रिक व्यवस्था में सामान्य बहुमत को जनमत का आधार माना जाता है। यानी अगर किसी क्षेत्र में सड़क बनाने के लिए आधे से ज्यादा लोग राजी है तो अल्पमत को नज़रअंदाज़ कर देना स्वाभाविक प्रक्रिया है। यानी 51 फीसदी का मत 49 फीसदी लोगों पर सामान्य लोकतांत्रिक प्रक्रिया में हावी हो जाता है। लेकिन अगर यही फैसला आम सहमति से लिया जाए तो एक व्यक्ति भी वीटो के जरिए प्रस्ताव के खिलाफ अपना विरोध जता सकता है। वहीं दो तिहाई बहुमत वाली व्यवस्था में भी सड़क का समर्थन करने वाले समूह को भी विरोध की स्थिति में अपने प्रस्ताव में संशोधन करना पड़ सकता है। कहने का मतलब यह है कि हर व्यवस्था अलग-अलग परिणाम लेकर आती है। कोई भी यह नहीं कह सकता कि इन तीनों व्यवस्थाओं में कौन सी जनहितकारी व्यवस्था है। प्रत्येक व्यवस्था केवल अलग-अलग तरीके से लोगों की इच्छाओं को प्रकट करती है।

इस आधार पर सार्वजनिक चयन कभी भी ऐसा लक्ष्य नहीं निर्धारित करता है, जिसे पूर्ण रुप से हासिल नहीं किया जा सकता है। मसलन किसी भी सूरत में पूर्ण जन कल्याण या जनहित का लक्ष्य हासिल नहीं हो सकता है। ऐसे में जन इच्छा सिद्धांत केवल राजनीतिक स्तर पर यह बताने की कोशिश करता है कि विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं में कैसे व्यक्तिगत हित किसी भी फैसले में हावी हो जाते हैं और इसकी वजह से अलग-अलग व्यवस्थाओं में उनके परिणाम भी अलग-अलग रुप में सामने आते हैं।

मतदान का गणित

हमारे द्वारा पहले किए गए विश्लेषण से एक बात सामने आती है कि कि वोटिंग के परिणामों से वोटर का असली मत सामने नहीं आता है। सार्वजनिक चयन के बुद्धजीवियों ने इस बात को भी इंगित किया है, वोटर कई बार वास्तविक मत की जगह किसी खास रणनीति के तहत वोट करता है। खास रणनीति को ऐसे समझा जा सकता है, कि वोटर वोट देने से पहले यह देखता है कि चुनाव में जीतने की संभावना किसकी ज्यादा है या किसकी सबसे कम है। इसी तरह कई बार वह ऐसे प्रत्याशी को चुनता है जिससे वह ऐसे प्रत्याशी को हरा सके, जिसे वह बिल्कुल पसंद नहीं करता है।

एक और निष्कर्ष सामने आता है कि कई बार निजी हितों के तहत संगठित वोटरों का एक छोटा समूह भी इतना शक्तिशाली हो जाता है कि वह जीत और हार में अपनी संख्या से कहीं ज्यादा निर्णायक भूमिका निभाता है। उदाहरण के लिये, क्षेत्र में बनने वाली सड़क से जिन लोगों को फायदा होगा, उनके पास उस सड़क के लिये व्यापक अभियान छेड़ने और उसके लिए पूंजी जुटाने के लिये प्रत्यक्ष प्रोत्साहन (इंसेंटिव) होता है। वही इसके विपरीत बड़ी आबादी इस सड़क के लिए लगने वाले टैक्स को इस बात से नजर अंदाज कर देती है कि टैक्स की राशि उसके हिस्से में बहुत थोड़ी सी आएगी। ऐसे में भले ही यह आबादी बहुमत में होती है प्रोजेक्ट के विरोध में होती है, फिर भी वह कोई बड़ा अभियान नहीं चला पाती है। यहां तक कि वे वोट डालने भी नहीं जाते क्योंकि उसे कोई बड़ा वित्तीय लाभ या नुकसान होता नहीं दिखता है। अंततः उसका विरोध अनदेखा और अनसुना रह जता है।

कई बार प्रोजेक्ट का समर्थन करने वाले समूह बहुमत जुटाने के लिए दूसरे समूहों से साझेदारी भी कर लेते हैं। इसके तहत ऐसे समूह जो अपने-अपने इलाके में नई सड़क का निर्माण कराना चाहते हैं, वह एक हो जाते हैं, और सड़क निर्माण के प्रोजेक्ट के लिए मिलकर एक व्यापक अभियान चलाते हैं। अगर उनका यह अभियान सफल हो जाता है तो दोनों समूहों को फायदा पहुंचता है। इसी तरह सत्ता पाने के लिए भी उम्मीदवार विभिन्न समूहों से हाथ मिलाकर बहुमत जुटाते हैं। इसके तहत ऐसे समूह साथ आ जाते हैं, जिन्हें सत्ता पाने पर विशेष फायदा मिलने की संभावना दिखती है। यह रणनीति अल्पसंख्यकों को भी सत्ता में भागीदारी पाने का मौका देती है। ऐसे लोग समर्थन के जरिए विधायिका में पहुंच जाते हैं। ऐसे में सीधी लोकतांत्रिक प्रणाली में बहुमत का प्रभाव रहता है, वही प्रतिनिधित्व वाले लोकतंत्र में अल्पसंख्यक भी प्रभावी स्थिति में आ जाते हैं।

मतदान का फैसला

सार्वजनिक चयन सिद्धांत राजनीतिक दलों, राजनेताओं और नौकरशाहों के हितों की भी व्याख्या करता है। उदाहरण के तौर पर राजनीतिक दलों का सत्ता में पहुंचने का लक्ष्य निर्धारित रहता है। इसके लिए उनके पास सबसे अच्छा विकल्प यह होता है कि वह उन मुद्दों का सीधे तौर पर समर्थन करें, जिसका वोटर

बड़े पैमाने पर समर्थन करते हैं। इस रणनीति के आधार पर वह यह भी उम्मीद करते हैं कि उन्हें ऐसे वोटर का सभी समर्थन मिलेगा, जो सीधे तौर बहुमत के साथ नहीं हैं। इस मीडियन वोटर को राजनीतिक दल चुनावों में केंद्रीय वोटर कहते हैं। ऐसे में विरोध वाले वोटर को राजनीतिक दल पूरी तरह से नज़रअंदाज़ कर देते हैं।

इसी आधार पर राजनेता जब एक बार चुनाव जीत जाते हैं तो वह अपनी नीतियों को लागू करने के लिए जन प्रतिनिधियों के साथ वोट का सौदा करते हैं। इस सौदे में राजनीतिज्ञ दल दूसरे जन प्रतिनिधियों को उनके पसंदीदा प्रोजेक्ट पर समर्थन देने का भी भरोसा दिलाते हैं। इस समझौते का सीधा मतलब है कि आप मुझे वोट दो और उसके बदले में हम आपको वोट देंगे। इसका परिणाम यह होता है कि उम्मीद से ज्यादा विधेयक पारित हो जाते हैं।

इन परिस्थितियों में सरकार के काम-काज में तेजी लाने के नाम पर नौकरशाह भी अपने हितों को आगे बढ़ाते रहते हैं। नौकरशाह अपने हितों को साधने के लिए ऐसे विभागों में नियुक्ति चाहते हैं, जिसका बजट बहुत ज्यादा हो और जहां पर उन्हें ज्यादा सुरक्षा मिलती है। सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारकों का कहना है, कि इसी हित को देखते हुए नौकरशाह जन प्रतिनिधियों को ज्यादा से ज्यादा नियमन और कानून लागू करने की सलाह देते हैं जो उनके विभाग के तहत आता है। ऐसा होने पर उनकी कुर्सी कहीं ज्यादा मजबूत हो जाती है। हालांकि इस कवायद में आम जन की आवाज को कोई जगह नहीं मिलती है। जबकि इन फैसलों पर होने वाले खर्च की भरपाई उसे ही करनी पड़ती है, यही नहीं इसका दुष्प्रभाव भी उसे ही झेलना पड़ता है।

सार्वजनिक चयन की शक्ति

सार्वजनिक चयन वाले अर्थशास्त्र का राजनीति विज्ञान पर काफी गहर असर पड़ता है। इसके जरिए चुनाव प्रक्रिया, जन प्रतिनिधि और नौकरशाहों के परंपरागत काम-काज के तरीकों पर कई अहम सवाल खड़े किए गए हैं। साथ ही यह वह सवाल भी उठाता है कि क्या राजनीतिक प्रक्रिया, बाजारवाद से अपने आपको बेहतर साबित कर सकती है। खास तौर पर, जब अपने हितों को साधने के लिए कई समूह आपस में मिलकर अल्पमत वालों का शोषण करते हैं। इसके

आधार पर सार्वजनिक चयन का सिद्धांत देने वाले कई विचारक सरकार और राजनीतिक प्रक्रिया पर संवैधानिक रुप से सवाल उठाते हैं।

2. सार्वजनिक चयनः एक वृतांत

सरकार के ऊपर भरोसा करने का बुद्धिजीवियों का लंबा इतिहास रहा है। दार्शनिक प्लूटो ने जब "दार्शनिक राजा" की कल्पना की थी, उस समय भी उनका सबसे ज्यादा जोर इसी पर था कि कैसे राज दरबार में ऐसे व्यक्तियों को लाया जाए, जो जन हित के बारे में सोचते हों। आधुनिक काल के शुरूआती दौर में समाज विज्ञानी यह मानकर चलते थे कि नौकरशाह निष्पक्ष व तर्कसंगत रहेंगे और इसलिए उन्होंने मुख्यतः नैतिक जिम्मेदारियों पर ध्यान केंद्रित किया। वर्ष 1532 में निकोलो मैकियावेली द्वारा लिखी गई पुस्तक "द प्रिंस" समाज विज्ञानियों की इस सोच का समर्थन नहीं करती थी। लेकिन उस वक्त निकोलो की भ्रष्ट सरकार की संभावना को उस समय के बुद्धजीवियों द्वारा पूरी तरह से नकार दिया गया।

हालांकि इसके बाद धीरे-धीरे कई विचारकों ने राजनीतिक प्रणाली और उसकी ईमानदारी पर सवाल उठाना शुरू कर दिया था। उन लोगों ने सत्ता में बैठे लोगों के निजी हित पर भी सवाल उठाना शुरू कर दिया था। साल 1742 में स्कॉटिश दार्शनिक डेविड ह्यूम ने सरकार में बैठे लोगों के स्वार्थ और उनके निजी हित को सामने लाते हुए, उनकी प्रखर आलोचना की थी। उन्होंने ऐसे लोगों को धूर्त कहा और मांग की इनसे जनता की रक्षा की जाए। इसके बाद साल 1776 में एडम स्मिथ ने "द वेल्थ ऑफ नेशंस" में सरकार में बैठे लोगों और बिजनेसमैन के गठजोड़ की खुलकर आलोचना की। उन्होंने बताया कि कैसे शीर्ष पर बैठे लोग अपने दरबारियों और मैन्युफैक्चरर्स को लाभ पहुंचाने के लिए एकाधिकार को बढ़ावा देते हैं।

आधुनिक सार्वजनिक चयन के प्रणेता

ह्यूम और स्मिथ ने राजनेताओं की जिस कार्य प्रणाली पर सवाल उठाए थे वह आज भी सार्वजनिक चयन सिद्धांत का केंद्र बिंदु हैं। लेकिन आधुनिक जन इच्छा सिद्धांत की स्पष्ट रुप से उत्पत्ति का श्रेय 18 वीं शताब्दी के दो फ्रांसीसी गणितज्ञों

को जाता है। जिन्होंने मतदान और चुनाव के तंत्र को समझाने की कोशिश की थी। साल 1785 में मारकस डे कोंडोरसेट ने चक्रण की समस्या को लोगों के सामने रखा। इस सिद्धांत को समझाते हुए उन्होंने बताया कि मान लीजिए कोई समुदाय बहुमत प्रणाली से शासन चलाता है। ऐसे में अगर उम्मीदवार के चयन के लिए "रॉक, पेपर और सीजर" जैसे खेल का विकल्प दिया जाता है। तो आधुनिक खेल में वोट के जरिए पेपर के मुकाबले रॉक के हारने की कहीं ज्यादा संभावना होगी, अगर इन्हीं दोनों में से किसी एक को चुनने का विकल्प दिया गया है। इसी तरह पेपर, सीजर से भी हार सकता है और सीजर, रॉक से भी हार सकता है। अगर यह तीनों संभावनाएं बनती है तो वास्तविक रुप से विजेता किसे कहा जा सकता है ? ऐसे कोई स्पष्ट विकल्प नहीं सामने आ रहा है, जो सभी को पसंद हो। ऐसे में अलग-अलग समूह बनाकर हर किसी को विजेता बनाया जा सकता है। यानी सबको बारी-बारी मौका चक्रण के जरिए मिलता रहेगा।

साल 1781 में जीन-चार्ल्स डी बोरडा ने चुनाव प्रक्रिया की संभावनाओं का अध्ययन किया। विशेषकर उस समस्या के लेकर जिसमें यदि कोई वोटर किसी मुद्दे को लेकर बहुत अधिक आतुर है फिर भी उसे उस व्यक्ति के भांति एक ही मत देने का अवसर प्राप्त होता है जिसे किसी मुद्दे से बहुत अधिक लेना देना नहीं होता। समस्या के समाधान के तौर पर वह चयन प्रक्रिया के लिए रैंकिंग आधारित प्रणाली का प्रस्ताव सुझाते है। इसके तहत वोटर की पहली पसंद बनने पर उम्मीदवार को दो अंक, दूसरी पसंद बनने पर एक अंक और तीसरी पसंद बनने पर शून्य अंक दिए जाते हैं, इस तीन चरणीय प्रक्रिया में जिस उम्मीदवार को सबसे ज्यादा अंक मिलते हैं, वह विजेता घोषित होता है।

अठारहवीं शताब्दी में ऑक्सफोर्ड के गणितज्ञ चार्ल्स डॉडसन (जो एलिस इन वंडर लैंड के लेखक लेविस कैरल के रुप में ज्यादा प्रसिद्ध हैं) ने फ्रांसीसी गणितज्ञ के अंक आधारित चुनाव प्रक्रिया के सिद्धांत को दोबारा खोजा। डॉडसन ने चुनाव प्रक्रिया को लेकर कई सारे लेख लिखे और साल 1876 में कोंडोरसेट के चक्रीय सिद्धांत से उबरने के लिए एक एक जटिल प्रणाली का प्रस्ताव प्रस्तुत किया।

टैक्स वितरण विषय पर एक अन्य महत्वपूर्ण लेख 1896 में स्वीडन के अर्थशास्त्री नट विक्सेल ने भी लिखा। यद्यपि मुख्य रूप से इसका विषय अर्थशास्त्र

था, फिर भी इसने सार्वजनिक चयन की उन समस्याओं को उठाया जिसके तहत सत्तासीन लोग यदि चाहें तो कराधान का सारा बोझ अनुचित तरीके से अल्पमत वालों पर आरोपित कर सकते थे। इसी आधार पर विकशेल ने बताया कि अगर अल्पमत समूह का शोषण रोकना है तो एक मात्र तरीका है कि सर्व सहमति से फैसले लिए जाएं। सर्व सहमति का यह विचार आज भी जन इच्छा की पैरवी करने वाले लोगों का सबसे मजबूत आधार है।

सार्वजनिक चयन सिद्धांत के आधुनिक विचारक

स्कॉटलैंड के अर्थशास्त्री नट विक्सेल के लेख के करीब 50 साल बाद डंकन ब्लैक ने बोरडा और कोंडोंरसेट के विचारों को दोबारा खोज कर अंग्रेजी भाषी लोगों के सामने व्यापक रुप से रखा। चुनाव प्रक्रिया की समस्या वाले जिन मुद्दों को बोरडा और कोंडोंरसेट ने उठाया था, उसपर साल 1948 में ब्लैक द्वारा लिखे गए लेख ने उन्हें सार्वजनिक चयन के आधुनिक सिद्धांत के जनक के रुप में स्थापित कर दिया।

सार्वजनिक चयन के तहत ब्लैक का सबसे अहम योगदान उनका प्रमुख मीडियन वोटर थ्योरम (जो किसी मुद्दे पर अपना पक्ष तय नहीं कर पाता है या यू कहें कि जो किसी खास विचारधारा का समर्थन नहीं है) है। राजनीतिक दल सबसे ज्यादा इन्हीं वोटर पर जोर देते हैं। उदाहरण के तौर पर सड़क निर्माण पर कितनी राशि खर्च करनी चाहिए, इस पर मत जानने के लिए राजनीतिक दल इन्हीं वोटर पर जोर देते हैं, क्योंकि इनकी संख्या सबसे ज्यादा होती है। जो राजनीतिक दल इन वोटर को नजरअंदाज करता है, वह दूसरे पक्ष का वोट खो देता है। ऐसे में जो राजनीतिक दल चुनाव जीतना चाहते हैं, वह वोट पाने के लिए इन्ही वोटर पर जोर देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वोटर के पास दूसरा कोई विकल्प ही नहीं बचता है।

साल 1951 में अमेरिकी अर्थशास्त्री केनेथ ऐरो (जिन्हें बाद में नोबेल पुरस्कार मिला) ने असंभाव्यता का सिद्धांत (इम्पॉसिबलिटी थ्योरम) प्रतिपादित किया, जो उनके द्वारा सार्वजनिक चयन के लिए दिया गया एक अहम योगदान साबित हुआ है। किसी भी चुनावी प्रक्रिया में सबसे अहम यही होता है कि वोट के लिए जब कोई समूह फैसला लेता है तो वह कितना तर्कसंगत है और सदस्यों की

आपसी सहमति कितनी है।

ऐरो ने अपने सिद्धांत में यह साबित किया कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में व्यवहारिक रुप से ऐसा होना संभव नहीं होता है। कुछ समय बाद लोकतंत्र की इस खामी को कुछ विचारकों ने लोगों के सामने रखा। उनका कहना था कि किसी भी चुनाव प्रणाली में रणनीति के तहत मतदान करने वाले लोगों अथवा एजेंडा सेट करने वाले लोगों के द्वारा चुनाव को आसानी से प्रभावित किया जा सकता है। इसके लिये वे फैसले लिये जाने के व्यवहार का क्रम तय करते हैं।

ऐरो के एक छात्र एंथोनी डाउंस ने मीडियन (जो किसी पक्ष या विचारधारा के साथ नहीं जुड़ा है) वाले वोटर पर अध्ययन किया। लेकिन उन्हें असली पहचान 957 में उनके द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक क्षेत्र में तर्कसंगत विकल्प सिद्धांत (रैशनल च्वाइस थ्योरी) से मिली। जब कोई व्यक्ति अपने लक्ष्यों के आधार पर कोई फैसला लेता है, तो उसे तर्कसंगत विकल्प का चयन करना कहते हैं। डाउंस के अनुसार राजनीतिक दलों का उद्देश्य पैसा कमाना, रुतबा बढ़ाना और सत्ता के बल पर ताकत हासिल करना होता है। उसका किसी नीति को लेकर कोई सरोकार नहीं होता है। बल्कि वोट हासिल करने और उसकी सहायता से सत्ता प्राप्त करने के लिए वे अपनी नीतियों में बदलाव भी करने के लिए तैयार रहते हैं। इसी तरह वोटर भी उसी प्रत्याशी या राजनीतिक दल को वोट देता है, जो उसे ज्यादा से ज्यादा फायदा पहुंचा सकते हों।

हालांकि डाउंस द्वारा वोटर की तर्कसंगत अनदेखी (रैशनल इग्नोरेंस) पर दिया गया विचार भी काफी लोकप्रिय है। उनके अनुसार कोई उम्मीदवार किस तरह की नीतियों का समर्थन करता है, उसे समझने में वोटर को काफी समय लग सकता है। ऐसे में जब वोट देने का मौका आता है, तो वह इन सूक्ष्म बातों को नजरअंदाज कर राजनीतिक दल के आधार पर प्रत्याशी का चयन करता है। या फिर वह वोट ही नहीं देता है। दुख की बात यह है, कि इन परिस्थितियों में अधिकतर वोटर उदासीन व्यवहार करते हैं। ऐसे में समूह उदासीन वोटर से कहीं ज्यादा जागरुक हैं और अपने हितों पर जोर देते हैं, वह भी राजनीतिक दलों को भी अपने मुद्दों के लिए प्रभावित करते हैं।

बुकानन और ट्युलॉक

अमेरिकी लेखक जेम्स बुकानन और गॉर्डन ट्यूलॉक को साल 1962 में आई उनकी पुस्तक "द कैल्कुलस ऑफ कंसेट" ने उन्हें सार्वजनिक चयन के अग्रणी विचारकों में शामिल करा दिया। अपनी पुस्तक में उन्होंने सामान्य बहुमत वाली वोटिंग प्रणाली द्वारा उठाए जाने वाले मुद्दों का विश्लेषण किया और वोट की सौदेबाजी (लॉग रोलिंग) वाले मामलों की तह में जाकर परीक्षण किया। लेकिन उनका सबसे अहम योगदान वोटिंग के नियमों पर रहा है। जिसमें उन्होंने बताया कि जब संविधान बनाते समय वोटिंग के नियमों का निर्धारण किया जाता है, उसी समय तय होता है कि कौन सा वोट, किस नियम के तहत रखा जाएगा। उनका कहना था कि संविधान हमेशा आम सहमति से बनना चाहिए। नहीं तो बहुमत एक ऐसी प्रणाली का निर्माण कर देगा, जो भविष्य में अल्पमत समूह का शोषण करेगा।

बुकानन और ट्यूलॉक का मानना था कि राजनीतिक प्रणाली और संविधान इस तरह विकसित करना चाहिए, जिससे व्यक्ति के हितों की रक्षा हो। उनका कहना था कि ऐसा नहीं होना चाहिए कि कोई व्यक्ति जन हित को हासिल करना ही अपना लक्ष्य समझे और वह अपने हितों की अनदेखी करता रहे । बुकनैन और टुलॉक ने उस मौजूदा विचार को चुनौती दी, जिसमें यह माना जाता है कि बाजार के असफल होने पर, जन कल्याण की ज़िम्मेदारी सरकार की होती है। उनका कहना है कि समस्या असल में सरकारों का असफल होना है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि एकाधिकार, हस्तक्षेप (दूसरों के कार्यों का दुष्परिणाम) और सीमित और एकतरफा सूचनाएं आदि बाजार से अधिक सरकारी व्यवस्था में पायी जाती है। चूंकि सत्ता में बैठे लोग ही सारे फैसले लेते हैं, ऐसे में किसी असफलता में उनका जिम्मेदारी से बचकर निकलना संभव नहीं होता है।

स्कूल और पुरस्कार

"वर्जीनिया स्कूल" ऑफ पब्लिक पॉलिसी नामक संस्थान की स्थापना बुकानन और टुलॉक ने की, जो संवैधानिक सिद्धांतों और दुनिया में मौजूद राजनैतिक संस्थाओं के बाबत अध्ययन करता है। इसी तरह रोचेस्टर स्कूल सामूहिक निर्णय की प्रक्रिया को आंकड़ों और गणितीय तकनीकी के आधार पर व्याख्या करता है। वहीं शिकागो स्कूल आर्थिक सिद्धांत के आधार पर सामूहिक निर्णय की प्रक्रिया

को समझाते हैं। एक और अहम सवाल 1986 में जन इच्छा सिद्धांत को आर्थिक विज्ञान वर्ग में दिए नोबेल पुरस्कार पर भी उठा। असल में इसके लिए केवल बुकानन का चयन किया गया, तब लोगों ने सवाल उठाया कि बुकानन के साथ टुलॉक को भी नोबेल मिलना चाहिए था। टुलॉक को पुरस्कार नहीं दिए जाने की भले ही कोई वजह हो लेकिन सार्वजनिक चयन के सिद्धांत को प्रतिपादित करने में उनका अहम योगदान रहा है। उन्होंने रेंट सीकिंग (सरकार से मिलने वाली आर्थिक सहायता, सब्सिडी आदि) का सिद्धांत (आगे देखे) दिया। साथ ही उन्होंने बताया कि रेंट सीकिंग एक व्यर्थ की गतिविधि है जो कि एकाधिकार और विशेष फायदा उठाने के लिए, कुछ विशेष समूह राजनीतिक गठजोड़ से इस्तेमाल करते हैं।

स्वहित साधक समूहों की शक्ति

अमेरिकी अर्थशास्त्री मैनकर ओल्सन ने भी राजनीतिक प्रक्रिया में अपने हित साधने वाले समूहों के प्रभाव की व्याख्या 1965 में अपनी पुस्तक "द लॉजिक ऑफ कलेक्टिव एक्शन" में की है। उन्होंने बताया कि यह हकीक़त है कि लॉबिंग करने वाले समूह हमेशा मौजूद रहते हैं। लेकिन ओल्सन ने यह भी बताया कि कई ऐसे बड़े समूह होते हैं, जो प्रभावी तरीके से अपनी बातों को रखने के लिए लॉबिंग नहीं कर पाते हैं। इसमें उपभोक्ता, करदाता जैसे समूह शामिल होते हैं

ज्यादातर समूहों को लॉबिंग में असफल होने की बड़ी वजह फ्री राइडर (बिना कुछ किये प्राप्त होने वाली सुविधा) की समस्या है। यदि कोई एक उपभोक्ता लॉबी, राजनेताओं से किसी प्रकार की रियायत हासिल करने में सफल रहती है तो उसका लाभ सभी उपभोक्ताओं को प्राप्त होगा। भले ही उन्होंने अभियान में सक्रिय रूप से भागीदारी सुनिश्चित की हो अथवा नहीं। अतएव कोई सहयोग क्यों करेगा जब उन्हें दूसरों के द्वारा किये गए प्रयासों का लाभ (फ्री राइड) मिलना ही है। जबकि पेशेवर संस्थाओं और कर्मचारी यूनियन, जो कि अभियान के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले लाभ को अपने सदस्यों तक ही सीमित कराने में सक्षम होते हैं। यही कारण है कि इनके आयोजनों में अत्यधिक संख्या में भीड़ उमड़ती है। लेकिन उपभोक्ताओं और करदाताओं के जैसी विशाल संख्या वाले वर्ग के द्वारा कार्यक्रमों का आयोजन मुश्किल से होता है और उनमें

बहुत कम संख्या में प्रतिनिधि उपस्थित होते हैं।

रोचेस्टर स्कूल के प्रमुख अमेरिकी राजनीति विज्ञानी विलियम एच.राइकर ने साल 1962 में यह सिद्धांत दिया कि कैसे एक से ज्यादा समूह अपने हितों को पूरा करने के लिए गठबंधन कर लेते हैं और एक दूसरे का समर्थन कर राजनैतिक प्रक्रिया में लाभान्वित होते हैं। समर्थक दलों की कोशिश रहती है कि यह गठबंधन बना रहे, लेकिन राइकर ने पाया कि बहुत बड़े गठबंधन ज्यादा समय तक नहीं टिक पाते हैं। ऐसे में समूहों की कोशिश यह रहती है कि वह केवल उतनी संख्या में समूहों को साथ मिला ले, जिससे उनके पास बहुमत हो जाए बजाय कि बहुत बड़ा गठबंधन स्थापित करने की जिसे की साथ रख पाना भी चुनौती हो।

राइकर ने इसके अलावा सार्वजनिक चयन वाली प्रक्रिया में खेल सिद्धांत को भी जोड़ने का काम किया। इसमें उन्होंने गणितीय सिद्धांत का मॉडल लेते हुए बताया कि चुनाव में किसी व्यक्ति का वोट देने का फैसला बहुत हद तक दूसरों के फैसलों से प्रभावित होता है।

नौकरशाही और नियमन

सरकारी व्यवस्था के साथ एक और मुश्किल अवयव स्वहित से प्रेरित नौकरशाहों का होना भी है। अमेरिकी अर्थशास्त्री विलियम ए निस्कानेन ने 1971 में अपनी पुस्तक "ब्यूरोक्रेसी एंड रिप्रजनेंटेटिव गर्वमेंट" में नौकरशाहों के हितों और फैसले लेने की प्रक्रिया में निहित उद्देश्यों को पहचानने का प्रयास किया। उन्होंने अपने अध्ययन में बताया कि सरकारी एजेंसियों में बैठे लोगों की यही कोशिश रहती है कि वे अपने लिए अधिक से अधिक बजट का आवंटन करा ले। ऐसा कर वह रुतबा, शक्ति, सुरक्षा, सहूलियत सहित अन्य फायदे हासिल कर लेते हैं। ऐसा करने के लिए नौकरशाह जनप्रतिनिधियों से अपने संपर्क का फायदा उठाते हैं। नौकरशाह जानते हैं कि जनप्रतिनिधियों की तुलना में सरकार के काम-काज की जानकारी उन्हें कहीं ज्यादा होती है। क्योंकि ज्यादातर जनप्रतिनिधियों के पास काम-काज की तकनीकी जानकारी नहीं होती है। इसी का फायदा नौकरशाह बजट आवंटन से लेकर कानून बनवाने में उठाते हैं। नौकरशाह जनप्रतिनिधियों की एक और बात का फायदा उठाते हैं। उन्हें पता होता है कि चुनाव जीतने के लिए जनप्रतिनिधि जनता से किए वादे को पूरा करते दिखना चाहते हैं। नौकरशाह

इसी का फायदा उठाकर अपने विभाग के लिए ज्यादा से ज्यादा बजट आवंटित करा लेते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि सिस्टम में कम क्षमता वाले नौकरशाहों का बड़ा तंत्र तैयार हो जाता है।

जॉर्ज स्टिगलर वर्ष 1971 में शिकागो स्कूल के साथ जुड़े। उन्होंने अपने लेख में नौकरशाही की एक अलग नजरिए से आलोचना की। उन्होंने मैनकर ओल्सन के अपने हित साधने वाले समूह के सिद्धांत को आगे बढ़ाते हुए कहा कि सरकार के जरिए जो कानून बनाए जाते हैं, उसमें भी आम जन के हित से ज्यादा नौकरशाहों और राजनीतिज्ञों के हित ज्यादा पूरे होते हैं। उदाहरण के तौर पर डॉक्टर, फॉर्मास्युटिकल कंपनियां ऐसे पेशेवर समूह हैं जो अपने हित साधने के लिए संगठित होकर लॉबिंग के लिए अपनी एक एजेंसी या संगठन बना लेते हैं। स्टिगलर कहते हैं कि ऐसा नहीं है कि एसोसिएशन अपने विशेष हित के जाल में जकड़ जाती हैं। समस्या यह है कि एसोसिएशन या एजेंसी ऐसे लोगों द्वारा ही बनाई जाती हैं, जो अपना हित साधने के लिए एजेंसी में हावी रहते हैं। स्टिगलर ने इन विचारों को अपने लेख [1] में यह कहते हुए व्यक्त किया है कि "उद्योग जगत के लिए बनाए जाने वाले नियम और कानून, मुख्य रुप से उन्हें फायदा पहुंचाने के लिए बनाए जाते हैं।"

हालिया अध्ययन

ऐसे विश्लेषणों ने सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारकों को सार्वजनिक नीति-निर्धारण की प्रक्रिया के प्रति निराशावादी बना दिया। किसी ऐसी प्रणाली की पहचान करना असंभव प्रतीत हो गया जो कि सामूहिक इच्छा का वास्तविक रूप हाल फिलहाल के पुनर्विमर्श है। लोग वोट देते समय अपनी वास्तविक सोच की जगह रणनीति के आधार पर फैसला करते हैं। इस व्यवस्था में आम जन को असल मुद्दों को समझने का मौका ही नहीं मिलता है। जबकि अपना एजेंडा तय करने वाले लोग ऐसा माहौल बनाने की कोशिश करते हैं कि वोटिंग के दौरान उनके मुद्दे हावी रहें। इसी तरह राजनीतिक दल ऐसा माहौल बनाते हैं कि ज्यादा से ज्यादा लोग उनके पक्ष में आ जाए, ऐसा करने के लिए अपने असल मुद्दों की

1. यह लेख 'द थ्योरी ऑफ इकोनॉमिक रेग्युलेशन' के नाम से जाना जाता है जो 'द बेल जर्नल ऑफ इकोनॉमिक्स एंड मैनेजमेंट साइंस', 2 के पृष्ठ संख्या 137-46 में प्रकाशित हुआ था।

बात कम करते हैं, वहीं लॉबिंग करने वाले राजनेताओं को अपने पक्ष में संसाधनों का ज्यादा से ज्यादा इस्तेमाल कर उन्हें प्रभावित करने की कोशिश करते हैं। जबकि नौकरशाह अपने फायदे का तंत्र खड़ा करने मे जुटे रहते हैं।

इनकी तुलना में सार्वजनिक चयन सिद्धांत के अन्य विचारक कहीं ज्यादा आशावादी रुख रखते हैं। साल 1940 की बात करें, तो जोसेफ ए शुम्पीटर का कहना है कि वोट देने की प्रतिस्पर्धा से फ़ायदेमंद परिणाम सामने आते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि बाजार में प्रतिस्पर्धा के अदृश्य हाथ से लाभ होता है।

पीटर कफलीन और शैमुअल नित्जान जैसे कुछ विशेषज्ञों ने इस बात को समझाया है कि जब राजनीतिक दलों के पास दांव पर लगाने के लिए बहुत सारे मुद्दे होते होते हैं, तो ऐसी स्थिति में किसी अवरोध की संभावना नहीं रह जाती है। इसी तरह एडवर्ड एच.क्लार्क और थियोडोरे ग्रोव्स ने एक अन्य तरीके के बारे में भी बताया है, जिसके जरिए वोटर अपने मुद्दों को कहीं ज्यादा बेहतर तरीके से समझकर दूसरों को उसके पक्ष में राजी भी कर सकते हैं। ऐसा कर वोटर, रणनीतिक आधार पर और केवल अपने हित को देखते हुए वोटिंग करने के फैसले से बच सकता है।

इस रणनीति को व्यवहारिक रुप से लागू किया जा सकता है यह जानकर सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारकों के अंदर नई आशा जग गई। उदाहरण के तौर पर कुछ विचारकों का मानना है कि निशकानेन नौकरशाहों और उनके विभागों के लिए बजट आवंटन के जिस बेतहाशा खर्च की बात करते हैं, वह उसे लेकर कुछ ज्यादा ही आशंका जता रहे हैं। उनका मानना है कि यह खर्च बहुत हद तक नियंत्रित रहता है। यही नहीं उनका मानना है कि राजनीतिक दल केवल मीडियन वोटर (किसी खास विचारधारा नहीं जुड़े) पर ही ध्यान केंद्रीत नहीं करते हैं बल्कि वह महंगाई, बेरोजगारी जैसे अहम मुद्दों से भी ध्यान भटकाने की कोशिश करते हैं।

नया दृष्टिकोण

सार्वजनिक चयन सिद्धांत के अग्रणी विचारक या तो ब्रिटिश विचारक रहे हैं या फिर अमेरिकी विचारक रहे हैं। और उनका सारा जोर प्रमुख रुप से दो दलों वाली राजनीतिक प्रणाली पर रहा है, जिसमें सामान्य बहुमत से सरकारें चलती हैं।

लेकिन सार्वजनिक चयन सिद्धांत ने धीरे-धीरे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी विस्तार किया है। इसके तहत उसने बहुदलीय राजनीतिक व्यवस्था और अलग-अलग तरह के वोटिंग के नियमों का अवलोकन किया है। उदाहरण के तौर पर, इसके तहत सिद्धांत ने यह जानने की कोशिश की है कि बहुदलीय व्यवस्था में गठबंधन कैसे बनते हैं, वह कितने टिकाऊ होतें हैं और कैसे राजनीतिक दल, गठबंधन बनाने की कोशिश करने की बजाय, अल्पमत वाली सरकारें चलाने का विकल्प चुनते हैं

साल 2002 के नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री वेरनॉन स्मिथ ने अपने छात्रों और कुछ बाहरी लोगों पर एक प्रयोग किया। इसके तहत उन्होंने यह जानने की कोशिश कि कैसे लोग अपने विकल्प चुनते हैं। इस प्रयोग के जरिए यह बात निकलकर सामने आई कि ऐसी चुनाव प्रणाली विकसित की जा सकती है, जिसमें ऐसा प्रारूप विकसित किया जा सकता है, जिसमें हम वोटर के व्यवहार को समझ सकते हैं। यही नहीं इसके जरिए वोटर द्वारा रणनीति के आधार की गई वोटिंग को भी हतोत्साहित किया जा सकता है। यही नहीं बुकानन और टुलॉक ने संविधान में जो सर्व सहमति के सिद्धांत की बात कही थी, वह भी संभव लगता है। इसी तरह ऑल्सन ने वोटर की मुफ्त में फायदे लेने वाली प्रवृत्ति को भी सामने रखा है। वह मानते हैं कि समूह के आधार पर वोटर बहुत कभी-कभार ही कोई फैसला करते हैं। हकीकत में लोग अपनी ऊर्जा, अपने हितों के लिए तार्किक आधार पर सोचने की जगह राजनीति करने में व्यर्थ करते हैं।

जैसे –जैसे सार्वजनिक चयन सिद्धांत परिपक्व होता गया, वैसे-वैसे परिणाम पाने में में कहीं ज्यादा तार्किकता बढ़ती गई। आगे के अध्यायों में हम देखेंगे कि कई ऐसे सिद्धांत और प्रयोगों पर सवाल किए गए हैं, जिन्हें शुरूआती दौर में सार्वजनिक चयन के विचारकों ने स्थापित किया था। जिन्हें इन सवालों के बाद कहीं ज्यादा बेहतर किया जा सका। सार्वजनिक चयन सिद्धांत में एक और बदलाव आया कि प्रयोगों में गणित का इस्तेमाल बढ़ता गया। हालांकि कुछ विचारक अभी भी यह मानते हैं कि सारा ध्यान मौजूदा राजनीति और सरकार पर केंद्रीत होना चाहिए। हमें पुराने मॉडल को निरस्त करने और उसमें बदलाव पर जोर नहीं देना चाहिए। जन इच्छा का ज्यादा प्रभाव लगातार राजनीति विज्ञान पर बढ़ता जा रहा है। राजनीति विज्ञानियों में तार्किकता का इस्तेमाल बढ़ रहा है।

साल 1965 में बुकानन और टुलॉक ने सार्वजनिक चयन सोसायटी की स्थापना की। इस सोसायटी का उद्देश्य विचारकों के बीच इस नए क्षेत्र से संबंधित विचारों का आदान-प्रदान करना था। इस सोसायटी की लोकप्रियता का अंदाजा हर साल सोसायटी की होने वाली बैठकों को लेकर लोगों में बढ़ती रुचि से लगाया जा सकता है। इस सोसायटी से सैकड़ों नए लोग हर साल जुड़ रहे हैं। इसी तरह की सोसायटी यूरोप और पूर्वी देशों में भी बनाई जा रही है। इस तरह सार्वजनिक चयन आज लोगों के बीच चर्चा का विषय है, अब यह अपने शुरूआती दौर से काफी आगे निकल चुकी है।

3. सरकार की जरुरत किसे है?

कुछ प्रोजेक्ट या काम ऐसे होते हैं, जिन्हें हम अकेले नहीं कर सकते हैं। ऐसे में इन्हें पूरा करने के लिए अगर हम काम, उस पर होने वाले खर्च को साझा करने के कुछ लोगों को नौकरी पर रख ले, तो इसमें कोई हर्ज नहीं है। यहां तक कि उस काम से होने वाले लाभ को भी अगर हम साझा करें तो हर व्यक्ति इस कदम को सार्थक मानता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि शहर में रहने वाला एक परिवार, समुद्र के किनारे बने छुट्टियां बिताने वाले घर को चलाने का खर्च वहन नहीं कर सकता है। ऐसे में अगर इस खर्च को वह दूसरों के साथ मिलकर साझा कर ले, तो यह काम आसान हो जाता है। मसलन एक परिवार, उस घर के सजावट की जिम्मेदारी उठा ले, वहीं दूसरा परिवार उसके बाग-बागीचे के रख-रखाव, तीसरा परिवार खाने-पीने के सामान की व्यवस्था कर ले तो उस घर को चलाना आसान हो जाएगा और सभी परिवार छुट्टियों का आनंद उठा पाएंगे।

लेकिन समस्या सार्वजनिक वस्तुओं पर आती है, जिसका लाभ ऐसे लोग भी उठाते हैं जो इसमें कुछ भी सहयोग नहीं करते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि ऐसा करने के लिये उन्हें कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता है। खास तौर पर जब उन्हें दूसरे द्वारा की गई मेहनत का फल बिना किसी प्रयास के मिल जाता है।

सार्वजनिक कामों को समझाने के लिए डेविड ह्यूम, बंदरगाह की गाद साफ करने और सेना में सैनिकों की संख्या बढ़ाने का उदाहरण देते हैं। वह कहते हैं कि अगर बंदरगाह बेहतर होगा तो बिजनेस बढ़ेगा। इसी तरह सैनिकों की संख्या बढ़ने से सुरक्षा बढ़ेगी जिसका सभी को फायदा मिलेगा। लेकिन यह जानते हुए भी कोई स्वेच्छा से गाद की सफाई के कार्य में आने वाले खर्च को वहन नहीं करता है या फिर बतौर सैनिक बिना वेतन स्वेच्छापूर्वक काम नहीं

करता है। ऐसा इसलिए है कि उन्हें लगता है कि जब बिना कोई काम किए हमें यह दोनों फायदे मिल सकते हैं, तो फिर मेहनत करने की क्या जरूरत है? गार्डन ट्युलॉक लंदन के जहरीले धुएं का उदाहरण देते हुए समझाते हैं कि सभी निवासियों को मालूम था कि अगर वह धुआं रहित ईंधन का इस्तेमाल करें तो लंदन का प्रदूषण खत्म हो जाएगा। लेकिन धुआं रहित ईंधन काफी महंगा होता था। ऐसे में यह जानते हुए कि अगर सब लोग मिलकर यह कदम उठाए तो उनका खर्च भी बहुत कम होगा और प्रदूषण की समस्या खत्म हो जाएगी। फिर भी वह ऐसा नहीं करते थे। क्योंकि उन्हें मालूम था, कि उनके अकेले के थोड़े हिस्से से कोई फर्क नहीं पड़ेगा और अगर सभी लोग ऐसा करने लगेंगे, तो उन्हें कोई खर्च नहीं करना पड़ेगा। ऐसे में मुफ्त में फायदा उठाने (फ्री राइड) में कोई गुरेज नहीं है।

सार्वजनिक कार्य की सबसे बड़ी समस्या यह है कि प्रोजेक्ट चाहे कितने भी लाभकारी हो, मसलन सुरक्षा का मामला हो या फिर प्रदूषण कम करने का मामला, वह कभी भी बेहतर तरीके से लागू नहीं हो पाता है। हालांकि कुछ काम ऐसे होते हैं जो सार्वजनिक काम के तौर पर वर्गीकृत होते हैं लेकिन विश्लेषण करने पर पाया जाता है कि वे दरअसल, सार्वजनिक नहीं हैं। मसलन बंदरगाह से गाद की सफाई को इस वर्ग में रखा जा सकता है। ऐसी स्थिति में सफाई के खर्च को जहाज को सेवा प्रदान करने के बदले बंदरगाह शुल्क के तौर पर वसूला जा सकता है। इसके बावजूद सार्वजनिक कामों की पहचान बहुत से सैद्धांतिक और व्यवहारिक आधारों पर किया जा सकता है। ऐसे में इन कामों को पूरा करने के लिए हम एक सरकार का चयन करते हैं। क्योंकि ऐसे सार्वजनिक काम लोग खुद करने को तैयार नहीं होते है या फिर उसे अच्छी तरह पूरा नहीं किया जा सकता है। सरकार का चयन हम सामूहिक रूप से वोट देकर करते हैं। और उसके बाद वह सरकार लोगों पर प्रदूषण रोकने के लिए धुएं वाले ईंधन के इस्तेमाल पर प्रतिबंध लगाती है, या फिर रक्षा और सार्वजनिक निर्माण के लिए कर लगाती है। इसी वजह से जन इच्छा सिद्धांत के विचारक बुकानन और ट्युलॉक यह मानते हैं कि राज्य की उत्पत्ति जीवन की जरूरतों के आधार पर स्वत: नहीं हुई है। बल्कि उनका मानना है सरकार की उत्पत्ति, कुछ लोगों के हितों को पूरा करने के लिए तार्किक और सामूहिक आधार पर लिए गए फैसलों के जरिए होती है।

निर्णय निर्धारण की कीमत

अब अगला सवाल यह उठता है कि सामूहिक फैसले लेने के लिए क्या नियम होने चाहिए? खास तौर पर, किसी सामूहिक परियोजना में सभी को योगदान देने के लिए बाध्य करने के लिए किस मात्रा में बहुमत का होना उचित होगा?

खास तौर से किसी परियोजना को पूरा करने के लिए बहुमत का क्या नियम होना चाहिए? आदर्श व्यवस्था तो यह है कि किसी को प्रोजेक्ट में शामिल होने के लिए बाध्य नहीं किया जाए और सब लोग आम सहमति से प्रोजेक्ट में शामिल हो जाय। लेकिन आज के समाज में जब करोड़ों की आबादी रहती है , तो ऐसे में आम सहमति बनाना एक तरह से असंभव कार्य है। साथ ही ऐसा करने के लिए बड़े पैमाने पर प्रयास करने होंगे। अगर सहमति के लिए सर्व सहमति जरूरी है तो हर व्यक्ति के पास किसी भी प्रोजेक्ट के संबंध में वीटो का आधिकार होगा। ऐसे में अगर कुछ लोग खुद आगे बढ़कर सार्वजनिक सेवाएं उपलब्ध कराते है तो उस पर सवाल खड़े हो जाते हैं। क्योंकि उसमें मुफ्त में सेवाएं लेने का मामला सामने आ जाता है।

लेकिन सर्वसम्मति के कम यदि कोई भी तरीका अपनाया जाता है तो उसके अलग दुष्प्रभाव होते हैं। क्योंकि बहुमत के आधार पर लिए जाने वाले फैसले में इस बात का हमेशा अंदेशा रहता है कि बहुमत वर्ग अपने फायदे वाले प्रोजेक्ट को आगे बढ़ाता है। इन परिस्थितियों में अल्पमत वर्ग को या तो फैसला स्वीकार करना पड़ता है या फिर उसकी कीमत चुकानी पड़ती है। वास्तव में अल्पमत का इस तरह से शोषण होना बहुत सामान्य बात है। इसके तहत अल्पमत समूह को सरकार के ऐसे प्रोजेक्ट पर भी कर देने के लिए बाध्य किया जाता है, जिसके लिए उसकी सहमति नहीं है। बहुमत कई बार इससे भी आगे निकल जाता है और वह अल्पमत पर अपने मूल्यों को भी थोपता है। कई बार उन्हें नशे के कारोबार जैसे अपराधों आदि में मुकदमें के जरिए फंसा दिया जाता है। यही नहीं उनके मूल अधिकारों का भी हनन किया जाता है।

बहुमत जितना बड़ा होता है, किसी मुद्दे पर आम सहमति तैयार करना उतना ही अधिक मुश्किल होता है। हालांकि ऐसा होने पर अल्पमत के लोगों के शोषित होने के मामले भी कम हो जाते हैं। बुकानन और ट्यूलॉक ने इसे फैसले

लेने की ऊंची लागत और इससे बाहरी रुप से पड़ने वाले असर को कम लागत के रुप में व्याख्या की है। ठीक इसी प्रकार, बहुमत के न्यूनतम होने पर सबके सहमत होने के मौके अधिकतम हो जाते हैं, लेकिन शोषण के मामलों के बढ़ने का जोखिम बढ़ जाता है।

संतुलन स्थापित करना

आदर्श स्थिति तो यह है कि हम बहुमत का ऐसा नियम बनाए जिसमें फैसले लेने का मूल्य और उससे पड़ने वाले बाहरी असर को कम से कम किया जा सके। बहुमत की ऐसी स्थिति जो इतनी छोटी हो कि सबकी सहमति तैयार करना आसान हो और इतनी बड़ी हो कि किसी का शोषण करना मुश्किल हो।

यह सही है कि दुनिया के ज्यादातर देशों में सामान्य बहुमत के आधार पर राजनीतिक व्यवस्था लागू है। इन देशों में फैसला 50 फीसदी से ज्यादा वोट के आधार पर लिया जाता है। सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारकों का भी मानते हैं कि वोट के आधार पर फैसला लेने का नियम अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। मुख्यतः इसलिए क्योंकि सरकार के अधिकांश फैसले बल पूर्वक लिये जाते हैं जबकि अल्पमत वाले लोगों की संख्या बहुमत वाले 50 फीसदी से थोड़ी ही कम होती है। साधारण बहुमत के नियम के कारण अल्पमतों के विरोध के सुर चाहे कितने भी मजबूत हों, वे अनसुने रह जाते हैं। तो आइए एक समझौता करते हैं। जी हां, हम चाहते हैं कि सामूहिक तरीके से निर्णय निर्धारण की प्रक्रिया सरल हो, लेकिन साथ ही हम यह भी चाहते है कि बहुमत वाले लोगों की मांग पर शुरू किये जाने वाले प्रोजेक्ट से लाभान्वित न होने वाले अल्पमत वाले विरोधियों पर बल का प्रयोग न्यूनतम हो।

स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थितियों में साधारण बहुमत का नियम सबसे अच्छा नहीं हो सकता है, जो कि इस समय दुनिया के ज्यादातर देशों की राजनैतिक व्यवस्था में लागू है। बुकानन और ट्यूलॉक के अनुसार आम धारणा यह है कि बहुमत वाली व्यवस्था कोई जादुई व्यवस्था नहीं है। कई ऐसे विकल्प हैं, जिन्हें लागू किया जा सकता है। मसलन दो तिहाई बहुमत का नियम काफी बेहतर साबित हो सकता है।

दरअसल, हम मुद्दों की गंभीरता को देखते हुए अलग-अलग वोटिंग नियमों

को भी लागू कर सकते हैं। उदाहरण के लिये जिस मुद्दे पर शोषण की संभावना कम है, वहां पर साधारण बहुमत का नियम लागू किया जा सकता है। लेकिन जहां पर जोखिम ज्यादा है वहां पर साधारण नहीं, उससे बहुत ज्यादा बहुमत वाले नियम को लागू किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो जहां पर बाहरी कारकों का जोखिम ज्यादा है, वहां पर अधिक समावेशी वोटिंग का नियम लागू किया जा सकता है।

इसी आधार पर विक्शेल ने कर लगाने के विषय पर सर्व सहमति का नियम लागू करने की सलाह का समर्थन किया था। विक्शेल की तरह बुकानन और ट्यूलॉक ने भविष्य में संविधान बनाते समय सर्व सहमति के वोटिंग नियमों की वकालत की है।

सरकार की असफलता

सार्वजनिक चयन सिद्धांत के उद्भव के पूर्व ज्यादातर अर्थशास्त्रियों का यह मानना था कि सार्वजनिक उत्पादों और सेवाओं की आपूर्ति करने में अगर बाजार असफल हो जाता है तो सरकार को वहां हस्तक्षेप कर चीजें सुधारनी चाहिए। लेकिन सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारकों ने अर्थशास्त्रियों की इस सोच पर कई गंभीर सवाल उठाए। उनका कहना था कि बाजार के असफल होने का मतलब यह नहीं होता है कि सरकार का कदम बेहतर होगा। सार्वजनिक चयन सिद्धांत लोगों को यह याद दिलाता है कि सरकार के कदम भी असफल हो सकते हैं।

उदाहरण के तौर पर कोई भी वोटिंग प्रणाली ऐसी नहीं हो सकती है जो सभी वोटरों के विचारों को प्रकट कर सके। सरकार कभी भी सभी वोटरों की इच्छा को नहीं समझ सकती है। ऐसे में वह यह दावा नहीं कर सकती है कि उसके द्वारा लिया गया फैसला "जन हित" में लिया गया है। ऐसे में अलग-अलग वोटिंग प्रणाली से अलग-अलग जवाब सामने आते हैं। हालांकि हमेशा से बहुमत प्रणाली में अल्पमत में रहने वाले लोगों के शोषण का खतरा बना रहता है। यही नहीं इस दौरान प्रभावशाली समूह के द्वारा रेंट सीकिंग (सब्सिडी, विशेष आर्थिक छूट) के तहत की जाने वाली व्यर्थ की गतिविधियों का बोझ भी उठाना पड़ता है।

हो सकता है कि बाजार कुछ कामों को बेहतर तरीके से अमल नहीं कर

पाए लेकिन इस बात की भी संभावना नही है कि सभी समस्याओं का समाधान सरकार कर सकती है। यहां तक कि कई बार ऐसा भी होता है कि सरकार का हस्तक्षेप चीजों को सुधारने की जगह पहले की तुलना में और अधिक बिगाड़ देता है।

सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारक यह स्वीकार करते हैं कि कई बार सरकार का हस्तक्षेप आवश्यक हो जाता है। लेकिन वे यह भी कहते हैं कि हमें सरकार के काम करने के तरीके और क्षमता को भी हकीकत के पैमाने पर तौलना चाहिए। हमें वोट देने के नियमों का विश्लेषण करना चाहिए। साथ ही यह भी देखना चाहिए किसी भी फैसले को अमल में लाने के लिए हम लोगों को किस हद तक राजी कर सकते हैं। हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि सारी खामियों के साथ क्या सरकार की सभी कार्यवाही वास्तव में सही है, जिसे बाजार सही तरीके से नही निभा पा रहा है। हम केवल सरकार का हस्तक्षेप इसलिए नहीं स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि बाजार अपनी भूमिका नहीं निभा पा रहा है। दूसरी अहम बात यह भी है कि सरकार की कार्यवाही हमेशा सही भी नहीं हो सकती है।

सार्वजनिक वस्तुओं का असमान वितरण

एक समस्या यह भी है कि उपरोक्त वर्णित बंदरगाह की गाद की सफाई वाले उदाहरण की तरह या तो सभी वस्तुएं सार्वजनिक होती हैं या कोई भी नहीं। क्या हमें बंदरगाह से गाद निकालना चाहिए? क्या सेना होनी चाहिए? और क्या प्रदूषित ईंधन का इस्तेमाल पर प्रतिबंध लगाया जाना चाहिए? जैसे सवालों के उदाहरण से हम यह समझ सकते हैं कि सार्वजनिक वस्तुओं या सेवाओं को लेकर आम लोगों की क्या सोच होती है। इन मुद्दों पर कुछ लोग सहमत होंगे तो कुछ लोग इसके विरोध में होंगे। ऐसे में जो लोग अल्पमत में होंगे उन्हें बहुमत का फैसला मानने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। इसके उलट अगर बाजार की बात करें तो स्थिति एकदम अलग होती है। उदाहरण के लिए अगर कोई जूता खरीदना चाहता है तो काला, नीला, भूरा या लाल किसी भी रंग का जूता किसी भी समय, कितनी भी मात्रा में खरीद सकता है। इसके लिए उसको न तो किसी के समर्थन की जरूरत हैं और न हीं किसी दबाव की जरुरत है। अगर हम इसी तरह का मॉडल सार्वजनिक वस्तुओं के लिए विकसित कर सकें, जिसमें लोग स्वयं ही

सामूहिक फैसले लेना शुरु कर दे तो हम बाजार जैसे मॉडल के काफी करीब पहुंच जाएंगे।

इसके अतिरिक्त, चुनाव वह तरीका है जिसमें हम सामूहिक फैसले बरकरार रखते हुए अपनी प्राथमिकताएं प्रदर्शित करते हैं जो केवल कुछ वर्षों के अंतराल पर आयोजित होते हैं। यह बाजार की प्रक्रिया के बिल्कुल विपरीत है जहां हम किसी भी वस्तु की खरीदारी में, हर पल अपने नजरिए के अनुसार फैसला करते हैं। उसके लिए किसी सामूहिकता का दबाव नहीं होता है। हम कोई भी वस्तु अपनी इच्छा के अनुसार खरीदने या उसे नहीं खरीदने का फैसला कर सकते हैं वह भी प्रति दिन, प्रति घंटे अथवा जब चाहे तब।

उदाहरण के लिए अगर हम आड़ू और खुबानी खरीदना चाहते हैं तो उसे खरीदने के लिए हम पर कोई दबाव नहीं डाल सकता है कि आडू और खुबानी के साथ गाय और सूअर का मांस भी खरीदना होगा। आप शाकाहारी या मांसाहारी या दोनों रहने का चयन अपनी मर्जी से कर सकते हैं। चुनाव में हमारे पास बाजार की तरह एक-एक उत्पाद को चुनने का विकल्प नहीं होता है बल्कि सुपरमार्केट के बास्केट ऑफर की तरह विभिन्न नीतियों और मुद्दों के गुच्छों को वोट करते हैं जैसे कि विस्थापन, स्कूल, स्वास्थ्य सेवाएं, जनकल्याण, सार्वजनिक खर्च, कर और जेल आदि। राजनीतिक दल या प्रत्याशी वोट के लिए जो पैकेज का प्रस्ताव देते हैं, उसमें कुछ प्रस्ताव हमें पसंद आएगें और कुछ नहीं आएंगे लेकिन सुपरमार्केट की तरह हमारे पास उन्हें अपनी इच्छानुसार चयन करने या नहीं चयन करने का विकल्प नहीं होता है।

विस्तारवादी दबाव

इन कमियों के बावजूद, सरकार के ऊपर लगातार यह दबाव रहता है कि वह अपनी गतिविधियों को बढ़ाती रहे। उदाहरण के लिए सार्वजनिक बहसों के दौरान ऐसे लोगों जो अपने हित सरकार से पूरा कराना चाहते है, वह लगातार सरकार पर सार्वजनिक रुप से दबाव बनाते हैं जैसे कि रक्षा उपकरणों के ठेकेदार, श्रमिक संगठन या दूसरे एसोसिएशनों में शामिल लोग। ये व्यापक मतदाताओं के आवाज़ को दबाने में भी सफल रहते हैं जिनकी रूचि कम विशेषीकृत होती है। विशेष हित समूहों के पास संगठित करने, कोष एकत्रित

करने और अपने हित में नीतियां बनवाने के लिये कैंपेन चलाने को लेकर बड़ा प्रोत्साहन होता है। इसके विपरीत आम जनता, जिनकी रूचि किसी एक विषय पर केंद्रीत नहीं होती, उन्हें सार्वजनिक चर्चाओं को लेकर उत्साह कम ही होता है।

एक बात और समझनी जरूरी है कि बहुमत के लोगों के हित के लिए सरकारें जो फैसले लेती हैं उसका खर्च सिर्फ अल्पमत के लोगों को ही नहीं चुकाना होता है बल्कि आने वाली पीढ़ियों पर भी उसका असर होता है। कई सार्वजनिक काम ऐसे होते हैं जिन पर उन कामों का लाभ पाने वाले समूह को कोई कर नहीं देना पड़ता है। लेकिन वह काम जनता के पैसे से ही किए जाते हैं। जिसका खामियाजा अगली पीढ़ी को भी उठाना पड़ता है। ऐसे में लोग ज्यादा पेंशन पाने या बेहतर सड़क के लिए किसी राजनीतिक दल या प्रत्याशी को वोट देते हैं, और उसपर आने वाले खर्च को भविष्य के करदाताओं पर टाल देते हैं। बोझ को आगे की पीढ़ी पर डाल देने की खासियत के कारण ही अधिकांश लोग सार्वजनिक सेवाओं को विस्तारित करने को लेकर काफी उत्सुक रहते हैं।[1]

विस्तारवादी दबाव का परिणाम यह होता है कि लोग वोटों का सौदा कर लेते हैं। इसका मतलब यह है कि आप मेरे प्रोजेक्ट के लिए वोट करिए और इसके बदले में हम आगे आपका समर्थन कर देंगे।

भले ही यहां वोट की सौदेबाजी होती है लेकिन यह प्रक्रिया पूरी तरह से लोकतांत्रिक लगती है। उदाहरण के लिए जब मैं अमेरिकी कांग्रेस के लिये काम करता था, तो मुझे यह जानकर बेहद आश्चर्य हुआ कि जन कल्याण के नाम पर शुरू हुआ फूड स्टॉम्प कार्यक्रम, वास्तव में फार्म बिल में बदल गया और अंत में

1. कुछ अर्थशास्त्रियों का मानना है कि सरकार सड़क के निर्माण जैसी भविष्य की परियोजनाओं में निवेश के लिए कर्ज लेती है। दरअसल, 1997-2010 के बीच लेबर सरकार द्वारा चलाया गया "गोल्डेन रूल" इसी सिद्धांत पर आधारित था। हालांकि यह तर्क समस्या पैदा करता है। साधारण तौर पर किसी प्रोजेक्ट के लिए किए गए समझौते में निवेश में क्या-क्या शामिल होगा, उसका उल्लेख कहीं नहीं होता है। सामान्य तौर पर प्रोजेक्ट का निर्धारण ऐसे समूहों द्वारा किया जाता है, जिनके अपने हित जुड़े होते हैं। साथ ही इस तरह का प्रोजेक्ट लंबी अवधि में क्या फायदा पहुंचाएगा, इसका भी कोई स्पष्ट जिक्र नहीं होता है और आम तौर पर इन पहलुओं के आधार पर सरकार अपने खर्च और आय की योजना नहीं बनाती है। इसी आधार पर लेबर सरकार के गोल्डेन रूल का अंत काफी बदनामी भरा रहा है। आम तौर पर सार्वजनिक चयन सिद्धांत के अर्थशास्त्रियों का मानना है कि ऐसे समूह जिन्हें प्रोजेक्ट से फायदा मिलने वाला है, वह लोग उसके लिए आसानी से सहमति बनाने के लिए पैसे खर्च कर लॉबिंग करते हैं।

कृषि सब्सिडी में परिवर्तित हो गया था। मेरे साथियों ने मेरे आश्चर्य को मेरा भोलापन समझ अपनी आंखे घुमा ली। ग्रामीण रिपब्लिकन सांसदों की सफाई थी कि उन्होंने इसका समर्थन कृषि सब्सिडी को देखते हुए किया, जबकि डेमोक्रेटिक सांसदों का तर्क था कि उन्होंने जनकल्याण के लिए उस कार्यक्रम का समर्थन किया है। इस प्रकार सभी फायदे में थे, सिर्फ टैक्सपेयर्स को छोड़कर।

इच्छा और परिणाम में सीधा संबंध नहीं

सार्वजनिक चयन सिंद्धात के समर्थकों ने राजनैतिक व्यवस्था की एक और असफलता की ओर इंगित किया है। उनके अनुसार रणनीति और सामरिक आधार पर वोटिंग होना इसी का परिणाम है। बाजार में खरीदारी करते समय आपको अपनी इच्छानुसार वस्तु और सेवाएं लेने का अधिकार होता है। लेकिन राजनीति में ऐसा नहीं होता है। चुनाव के दौरान भले ही आप अपने पसंद के किसी मुद्दे के आधार पर वोट देते हैं लेकिन कई बार उसका परिणाम ऐसा होता है, जिसे आप बिल्कुल पसंद नहीं करते हैं।

इसी वजह से बहुत से वोटर चुनावों के दौरान अपनी वास्तविक प्राथमिकता को प्रकट नहीं करते हैं और काफी चतुराई से वोटिंग करते हैं। इसके तहत वह जीत की संभावना को देखते हुए ऐसे व्यक्ति को वोट देते हैं, जो उनके पसंद का नहीं होता है। उदाहरण के तौर पर यूनाइटेड किंगडम के संसदीय चुनाव में मान लीजिए लेबर पार्टी के उम्मीदवार के जीतने की संभावना नहीं दिखती है, तो वह लिबरल डेमोक्रेट्स पार्टी को उस उम्मीदवार को वोट देते हैं, जो उनके धुर विरोधी कंजर्वेटिव पार्टी को हरा सकता है।

लेकिन इस परिणाम से राजनेताओं और सरकार को गलत संदेश जाता है। ऐसे में चुनाव के जरिए यह जानना बहुत मुश्किल होता है कि जनता का वास्तविक मूड क्या है। क्योंकि किसी भी मुद्दे पर वोट देने के लिए हर व्यक्ति के पास केवल एक वोट ही होता है। ऐसे में यह बात मायने नहीं रखती है कि किसी मुद्दे पर वोटर की राय क्या है? ऐसे में जितने ज्यादा लोग अपनी इच्छा के अनुसार वोट नहीं देते हैं, तो यह पता लगाना मुश्किल हो जाता है कि जनता का वास्तविक मूड क्या है? जब तार्किक सोच रखने वाले वोटर को यह पता चलता है कि दूसरे लोग किस आधार पर वोट दे रहे हैं, तो उसे अपना वोट देना व्यर्थ लगता है।

इसलिए वह वोट देकर समय नहीं गंवाना चाहता है और वह वोट ही नहीं देता है। ऐसे में लोकतांत्रिक प्रक्रिया प्रभावकारी नहीं रह जाती है।

स्वहित साधने वाले समूह, वोटर की अरुचि, रणनीतिक वोटिंग, समूह के आधार पर वोटिंग, दबाव, एकाधिकार, शोषण और समय में बदलाव ऐसे उदाहरण हैं, जो सरकार की असफलता को बताते है। इसलिए बुकानन और ट्यूलॉक कहते हैं कि सरकार कोई ऐसी चीज नहीं है, जिसके लिए हमें रूमानी होने की जरूरत है।

4. चुनाव जीतने के तरीके

यह कहावत है कि अगर आप कानून या सॉस (चटनी) को पसंद करते हैं, तो कभी यह जानने का प्रयास नहीं करना चाहिए, कि यह कैसे बनाया गया है। सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारक चुनाव को इसी परिहास के नजरिए से देखते हैं। वोट की प्रक्रिया अपनाने का उद्देश्य केवल यही है कैसे कई सारे व्यक्तियों की सोच को एक सामूहिक फैसले में परिवर्तित किया जाए। लेकिन सामूहिक फैसले का परिणाम क्या होगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि चुनाव के लिए किस तरह की प्रक्रिया अपनाई गई है। हालांकि हर प्रणाली की अपनी विशेषता होती है। यह विशेषता केवल उसके काम करने के तरीके तक ही सीमित नहीं होती है बल्कि वह इस पर निर्भर करती है कि उसने वोटर और उम्मीदवार के व्यवहार को किस हद तक प्रभावित किया है। राजनीतिक प्रक्रिया उतनी आकर्षक नहीं होती है, जितना की प्रतीत होती है। इसलिए उसके जरिए आने वाला परिणाम विकृत और उम्मीद से कहीं ज्यादा अलग होता है।

मतदान और व्यवहार में विरोधाभास

कोंडोंरसेट ने चुनाव परिणामों को लेकर एक अहम बात बताई कि कुछ चुनाव प्रक्रिया ऐसी होती हैं, जिनसे किसी भी तरह के परिणाम सामने आ सकते हैं। इसे रॉक, पेपर और सीज़र के उदाहरण से समझा जा सकता है। उनके अनुसार इस तरह की प्रक्रियाओं में रॉक, पेपर से हार सकता है। पेपर, सीज़र से हार सकता है और सीज़र, रॉक से भी हार सकता है। इस तरह की चुनाव प्रक्रिया में परिणाम इस बात पर निर्भर करते हैं कि चुनाव का प्रबंधन किस तरह किया गया है। यदि कोई वोटों का चयन किस क्रम में हो यह निर्धारित कर सके, तो वह अपना हित साधना सुनिश्चित कर सकता है और इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि अन्य लोग क्या चाहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि किसी कमेटी के चेयरमैन को उपलब्ध कई

सारे विकल्पों में से एक को चुनना हो तो एक एजेंडा सेटर के लिये यह क्रम सुनिश्चत करना आसान हो जाता है कि वोट किस आधार पर हो। और इस प्रकार वह यह भी सुनिश्चित कर लेता है कि उसका हित बरकरार रहे। इस सांठ-गांठ में वोटर की इच्छा की कोई परवाह नहीं करता है।

डंकन ब्लैक की गणना और उससे संबंधित हालिया विश्लेषणों से यह साबित होता है कि आज के दौर में जटिल राजनीतिक प्रणाली में, जहां वोटरों की संख्या बहुत ज्यादा है, ऐसी स्थिति में वोटों के चयन के जितने विकल्प हम देंगे, यह चक्रीय विरोधाभास बढ़ता जाएगा। आज की बड़ी और जटिल राजनैतिक प्रणाली में यह विरोधाभास काफी महत्व रखने लगा है।

उदाहरण के तौर पर अमेरिका के राष्ट्रपति चुनाव का विश्लेषण करते हैं। वहां पर शुरुआती चरणों के चुनावों के जरिए आखिरी दौर में दो या तीन उम्मीदवार चयन के लिए रह जाते हैं। ऐसा ही कुछ फ्रांस के राष्ट्रपति के चुनाव के दौरान भी देखा जा सकता है जहां पहले दौर के चुनावों में सबसे आगे रहने वाले उम्मीदवार को दूसरे चरण में बाहर हो जाता है। जैसे कि साल 2002 में फ्रांस में राष्ट्रपति चुनाव के दौरान नेशनल फ्रंट के नेता जीन-मैरी ली पेन 16 उम्मीदवारों के बीच पहले चरण के चुनाव में बहुत कम वोटों के अंतर से दूसरे नंबर पर थे, लेकिन रन ऑफ में उन्हें जैकस शिरॉक से एकतरफा हार का सामना करना पड़ा था। जबकि पहले चरण में तीसरे नंबर पर रहकर कड़ी टक्कर दे रहे सोशलिस्ट पार्टी के नेता को रन ऑफ में एक भी वोट नहीं मिला। फ्रांस और अमेरिका के उदाहरण से स्पष्ट है कि अलग-अलग वोटिंग सिस्टम होने से परिणाम भी पूरी तरह से अलग आते हैं। फ्रांस के उदाहरण से समझते हैं कि अगर वामपंथी विचारधारा के उम्मीदवारों की संख्या कम होती तो हो सकता था कि सोशलिस्ट उम्मीदवार नेशनल सोशलिस्ट के उम्मीदवार को हराकर दूसरे स्थान पर पहुंच जाता । ऐसी स्थिति में नेशनल फ्रंट पार्टी का वोटर, जिसने अपनी पार्टी के उम्मीदवार के जीत की दौड़ से बाहर हो जाने के बाद शिराक को वोट दिया, शायद सोशलिस्ट पार्टी को समर्थन करता। अगर ऐसा होता तो निश्चित तौर पर शिराक की हार हो जाती और सोशलिस्ट पार्टी का उम्मीदवार जीत हासिल कर लेता। इसी आधार पर दूसरे राजनीतिक दल वोटिंग के विरोधाभास की शिकायत कर सकते हैं।

तीसरी पार्टी वोटिंग के व्यवहार के इस विरोधाभास की प्राय: शिकायत करती है। उदाहरण के लिये ब्रिटेन के लिबरल डेमोक्रेट्स किसी भी दो दलीय चुनावी व्यवस्था में आसानी से जीत हासिल कर सकते हैं। चूंकि लेबर पार्टी के समर्थक कंजरवेटिव पार्टी को वोट देने की जगह लिबरल डेमोक्रेट को वोट देते। वहीं कंजरवेटिव पार्टी के वोटर लेबर पार्टी की जगह लिबरल डेमोक्रेट को वोट देना पसंद करते। लेकिन जब चुनाव में तीनों पार्टियां मैदान में आ जाती हैं, तो परिस्थितियां बदल जाती है और लिबरल डेमोक्रेट को तीसरे स्थान पर संतोष करना पड़ता है।

अन्य चुनावी प्रणालियां

सार्वजनिक चयन सिद्धांतों के विचारकों का शुरू में जोर एक सदस्य वाली व्यवस्था पर था। लेकिन बाद में यूनाइटेड किंगडम और अमेरिका की राजनीतिक प्रणाली का उन्होंने अध्ययन किया। इन प्रणालियों में पूरे देश को भौगोलिक आधार पर संसदीय क्षेत्रों में बांट दिया जाता है। हर संसदीय क्षेत्र में एक से ज्यादा उम्मीदवार एक-दूसरे के खिलाफ चुनाव लड़ते हैं। और उनमें से जिस उम्मीदवार को सबसे ज्यादा वोट मिलते हैं, वह चुनाव जीत जाता है। लेकिन उसकी जीत का मतलब यह नहीं है कि उसे बहुमत मिल गया यानी 50 फीसदी से ज्यादा वोट मिल गए हैं। असल में वोट अलग-अलग उम्मीदवारों में बंट जाने से उसे जीत मिलती है, लेकिन हकीकत में जीता हुआ उम्मीदवार अल्पमत वाले समूह का ही प्रतिनिधित्व करता है, क्योंकि वह कम संख्या वाले वोटरों के समूह की पसंद होता है।

ऐसे में उम्मीदवार चयन का यह पैमाना कई देशों में चिंता का विषय बन गया जिसके बाद यूरोपीय महाद्वीप के कई अन्य देशों ने अपने यहां समानुपातिक प्रतिनिधित्व (प्रपोर्शनल रिप्रज़ेंटेशन) वाली व्यवस्था को आत्मसात कर लिया। इसमें बदलाव के लिए कई देशों में राजनीतिक दलों ने अपने पसंद के उम्मीदवारों की सूची बनाई। इस प्रणाली में वोटर व्यक्ति की जगह राजनीतिक दलों को वोट देते हैं। उम्मीदवारों के चयन के बाद प्रत्येक राजनीतिक दल को मिले वोट के आधार पर सीटों का आवंटन कर दिया जाता है। इस व्यवस्था में अल्पमत वाली पार्टी के उम्मीदवारों को भी विधायिका या संसद मे प्रतिनिधित्व का मौका मिल

जाता है। लेकिन इस व्यवस्था में राजनीतिक दल के प्रमुखों के पास चुनाव के लिए उम्मीदवारों तय करने की ताकत आ जाती है। इस प्रणाली में एकल सदस्य प्रणाली की तुलना में पार्टी प्रमुखों को अपना एजेंडा पूरा करने का कहीं ज्यादा मौका मिल जाता है। ऐसे में उम्मीदवारों की निष्ठा वोटर से ज्यादा पार्टी और उसकी मुखिया के लिए हो जाती है।

समानुपातिक प्रतिनिधित्व वाली व्यवस्था में बार-बार गठबंधन या अल्पमत वाली सरकार बनती है, जो इस व्यवस्था की सबसे बड़ी खामी है। इसके तहत सरकार बनाने के लिए अलग-अलग मतों वाले राजनीतिक दलों को अपनी विचारधारा से समझौते कर एक मिली-जुली सरकार बनानी पड़ती है। इसका सबसे गंभीर परिणाम यह होता है कि मिली-जुली सरकार की नीतियां भी मिलीजुली संकर प्रजाति वाली बनती है जिसके लिये किसी वोटर ने वोट नहीं दिया होता है, फिर भी एक नई सरकार का गठन हो जाता है। इसी तरह की आलोचना का सामना वैकल्पिक वोट प्रणाली (अल्टरनेटिव वोट सिस्टम) को करना पड़ा है। इस प्रणाली में हर संसदीय क्षेत्र से केवल एक उम्मीदवार का चयन किया जाता है। इसमें वोटर उम्मीदवारों की रैंकिंग करता है। जिस उम्मीदवार को वोटर ने सबसे कम पसंद किया है वह बाहर कर दिया जाता है। जबकि दूसरी पसंद वाले उम्मीदवार को दूसरों के साथ रखा जाता है। इसके तहत वोटर की रैंक के आधार पर धीरे-धीरे उम्मीदवार रेस से बाहर होते जाते हैं और अंत में बहुमत पाने वाला उम्मीदवार विजयी घोषित होता है। इसमें ऐसा हो सकता है कि एक उम्मीदवार 50 फीसदी से थोड़ा ज्यादा वोट पाकर विजेता बन जाए, जबकि दूसरा उम्मीदवार 50 फीसदी से थोड़ा कम वोट पाकर चुनाव हार जाए। ऐसे में वैकल्पिक चुनाव प्रणाली हो, आनुपातिक चुनाव प्रणाली या दूसरी प्रणाली में किसी को भी एक मत से बेहतर नहीं बताया जा सकता है।

तर्कसंगत अनभिज्ञता

मतदान वोटरों से थोड़े समय और प्रयास की मांग करता है। यह समझना जरूरी है कि जब कोई वोटर वोट डालने जाता है तो उसे केवल मतदान केंद्र पर जाकर वोट नहीं डालना होता है, बल्कि उसको वोट के लिए मन बनाने के लिए दूसरे प्रयास भी करने पड़ते हैं। ऐसे में वोट डालने को केवल समय के खर्च के आधार

पर नहीं देखना चाहिए। वोटर को उम्मीदवार की नीतियों, उसके व्यक्तिगत जानकारी आदि के बारे में भी वोट देने से पहले पड़ताल करनी पड़ती है। ऐसे में वोट के लिए उम्मीदवार का चयन करना वोटर के लिए एक बड़ा महत्वपूर्ण काम बन जाता है।

वोट इसलिए अहम हो जाता है क्योंकि वोटर अगले चार या पांच साल के लिए एक ऐसी सरकार चुनता है, जिसे दूसरों (आम नागरिक) की अर्थव्यवस्था को चलाने की जिम्मेदारी होती है। अब सवाल यह उठता है कि अगले पांच साल के लिए किसको रक्षा उत्पादन, शिक्षा, कल्याणकारी योजनाओं, स्वास्थ्य सेवाएं, वित्त, उद्योगों, ट्रांसपोर्ट आदि के लिए कानून बनाने का एकाधिकार दिया जाए। इन पहलुओं को देखा जाए तो एक वोटर को वोट देने से पहले काफी जांच-परख करनी पड़ती है।

यहां तक कि कई बार वोटर यह सब करने के बावजूद अपनी इच्छा के अनुसार उम्मीदवार को जिता नहीं पाता है। उदाहरण के तौर पर यूनाइटेड किंगडम में वोटर द्वारा पूरी जांच-परख के साथ लेबर पार्टी के उम्मीदवार को दिया गया वोट बेकार हो जाता है। लेकिन यहीं वोट अगर लिबरल डेमोक्रेट पार्टी के उम्मीदवार को मिल जाता तो शायद वह कंजरवेटिव पार्टी के उम्मीदवार को हरा देता। अहम बात यह है कि वोटर भी कंजरवेटिव पार्टी को पसंद नहीं करता है।

इसी तरह, वोटर कई अन्य प्रकार की अनिश्चितताओं का भी सामना करता है। बाजार में सामान्य तौर पर वस्तुओं की कीमतें और गुणवत्ता पारदर्शी नहीं होती है। फिर भी यदि आप बाजार से एक कप काफी खरीदते हैं तो आपको यह पता होता है कि उसको खरीदने के लिए आपको कितना खर्च करना पड़ेगा और उसके बदले में आपको क्या मिलेगा। यानी बाजार में सौदा करने पर आपको लागत और उससे मिलने वाला फायदा पूरी तरह से पता होता है। लेकिन राजनीति में चीजें इतनी पारदर्शी नहीं होती है। क्योंकि अगर वोटर किसी कार्यक्रम जैसे स्वास्थ्य आधारित योजनाओं का समर्थन कर वोट करता है, तो उस पर खर्च होने वाली लागत और उससे मिलने वाला फायदा सभी लोगों में वितरित होता है। साथ ही शायद किसी व्यक्ति को इस बात का अंदाजा लग पाता है कि उसे योजना के एवज में कितनी कीमत चुकानी पड़ी है और उससे, व्यक्तिगत स्तर पर उसे कितना फायदा मिला है। हो सकता है कि आपको बेहतर नौकरी मिल जाए।

वेतन बढ़ने से आप ज्यादा टैक्स देने वाले स्लैब में आ जा सकते हैं। इस वजह से आप ज्यादा टैक्स चुकाते हैं। लेकिन उसकी तुलना में आपको सेवाएं उससे नहीं मिलती है। यह भी हो सकता है कि आप कभी उतने बीमार ही न हों कि आपको स्वास्थ्य सेवाओं की जरूरत पड़े।

वोट के बदले में वोटर का लगने वाला समय और उससे मिलने फायदे का आकलन करने पर कई बार वोटर के मन में निराशा पनपती है। यह निराशा तब और बढ़ जाती है, जब उसे लगता है कि उसका वोट वास्तव में परिणामों पर बहुत असर नहीं डालेगा। ऐसी स्थिति में वोटर सोच-समझ कर वोटिंग से परहेज करने लगता है। वोटर की इसी बेरुखी को एंथोनी डाउन्स ने तर्कसंगत अनभिज्ञता के रूप में परिभाषित किया है। वोटर का यह रुख मोटे तौर पर लोकतांत्रिक व्यवस्था पर सवाल खड़े करता है लेकिन अगर तर्कों के आधार पर देखा जाए तो वोटिंग न करने का फैसला सही लगता है। उम्मीदों के अनुसार परिणाम नहीं आने से वोटर को लगता है कि उसे राजनीतिक दल या उम्मीदवार की नीतियों को जानने में जो समय खर्च किया, वह बेकार हो गया।

मतदान का उद्देश्य

दरअसल, यह स्पष्ट नहीं है कि तर्कसंगत लोग वोट डालने की जहमत उठाते ही क्यों हैं? शायद यह एक ऐसा काम है जो हमें लगता है कि हमें करना चाहिए। प्रयोजनयुक्त मतदान दूर बैठकर अपनी पसंदीदा फुटबॉल टीम का मनोबल बढ़ाने के लिये चीयर करने से कोई फर्क नहीं पड़ता उसी प्रकार इसपर भी इसका बहुत ज्यादा फर्क पड़ता नहीं है। लेकिन हकीकत यह है कि बड़ी संख्या में लोग वोट देते हैं। सार्वजनिक चयन सिद्धांत के मुताबिक वोटरों को यह उम्मीद रहती है कि उनके द्वारा दिए गए वोट से उनके हित पूरे होंगे।

हालांकि जो लोग राजनीतिक दल चलाते हैं वह इस प्रक्रिया में भी अपने हित साधने की कोशिश में लगे रहते हैं। सार्वजनिक चयन के आरंभिक विचारकों जैसे ब्लैक और डाउन्स का कहना है कि राजनीतिक दलों का केवल एक ही लक्ष्य होता है कि वह वोटर को प्रभावित कर अपने दल के पक्ष में वोटिंग करायें, जिससे उनकी पार्टी को जीत हासिल हो सके। क्योंकि इसी के जरिए उन्हें वह सत्ता और रूतबा हासिल होता है, जिसकी उनको दरकार रहती है। वोट का

उद्देश्य ही उनकी राजनैतिक साख को आकार देता है इसलिये वे उन्हीं नीतियों को अपनाते हैं जो उन्हें लगता है कि चुनाव में जीत दिला सकती हैं, इसलिये नहीं कि उन्हें लगता है कि वह नीति सही है।

निस्संदेह, यह विचार काफी महत्वपूर्ण है। हम सभी ने देखा है कि राजनीतिक दल लोगों के मत के आधार पर नीतियों का समर्थन या विरोध करते हैं। हाल ही में सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारकों ने इस रूख पर सवाल उठाते हुए कहा है कि जैसा हम सोचते हैं कि राजनीतिक दल तेजी से अपनी नीतियों को बदलने के लिये स्वतंत्र हैं, यह हकीकत नहीं है। असल में वह एक व्यापक विचारधारा के साथ आगे बढ़ते हैं। इसी के तहत वह ऐसी नीतियों का समर्थन करते हैं, जिनको जन समर्थन प्राप्त रहता है। अगर वह चुनाव में मिलने वाले तत्कालीन फायदे के लिए अचानक अपनी नीतियों को बदलेंगे, तो वह मिलने वाले जन समर्थन को खो देंगे। राजनीतिक दलों का किसी खास विचारधारा के साथ जुड़ना, वोट दिलाने में बड़ा फायदा पहुंचाता है। अगर वोटर बहुत जागरूक नहीं है तो राजनीतिक दल उन्हें अपनी विचारधारा और नीतियों को ऊपरी या सतही तौर से समझाकर, वोट के लिए आकर्षित कर लेते हैं।

मध्य की ओर झुकाव

डंकन ब्लैक ने राजनीतिक दलों की एक और रणनीति के बारे में बताया है। उनका कहना है कि राजनीतिक दल मीडियन (मध्यमार्गी विचारधारा) वाले वोटरों को सबसे ज्यादा लुभाने की कोशिश करते हैं। इसके लिए ब्लैक ने मीडियन वोटर पर एक सिद्धांत प्रतिपादित किया।

इस सिद्धांत को इन साधारण उदाहरणों से समझा जा सकता है। जैसे कि रक्षा पर किसी सरकार को कितना खर्च करना चाहिए, इस पर वोटर क्या सोचते हैं? सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारकों ने इस प्रवृत्ति को केवल एक नजरिए से देखने वाला बताया है। उनका कहना है कि रक्षा को लेकर लोगों का नजरिया दो तरह का होता है। एक या तो उस पर खर्च नहीं करना चाहिए या दो, रक्षा तंत्र को मजबूत करना बहुत जरूरी है। इसके तहत कुछ लोग ज्यादा खर्च करने का समर्थन करते हैं और कुछ लोग खर्च का विरोध करते हैं। घंटी के आकार से वोटर के व्यवहार को समझते हैं, उसी के अनुरूप ज्यादातर लोगों के विचार किसी भी

पैमाने के बीच में नजर आते हैं। ऐसे में कहा जा सकता है वोटर की राय करीब एक जैसी होती है। इसीलिए जब राजनीतिक दल अपनी नीतियों को वोटर के सामने रखते हैं तो उनकी कोशिश यही रहती है कि ऐसे वोटर को ज्यादा प्रभावित करें जो मध्य विचार वाले (मीडियन) है, जो मुद्दे पर स्पष्ट विचार रखते हैं। राजनैतिक दलों का मानना होता है कि चरमपंथी वोटर तो उनके साथ रहेंगे ही, मध्य विचार वाले वोटरों को आकर्षित कर वे अपना काम निकाल सकते हैं। हकीकत में राजनैतिक दल जितना ही ऐसे वोटर के करीब आते हैं, उन्हें समर्थन बढ़ाने में फायदा मिलता है।

ब्लैक राजनीतिक दलों की इस प्रवृत्ति को समझाते हुए कहते हैं कि इसका परिणाम यह होता है कि राजनीतिक दल मध्य विचारधारा वाले (मीडियन) वोटरों को लुभाने के लिए अपनी विचारधारा में लचीलापन लाते हैं। इस रणनीति का बेहतरीन उदाहरण यूनाइटेड किंगडम और अमेरिका के चुनावों में दिखता है। वोटरों की प्रायः शिकायत रहती है कि राजनीतिक दलों की विचारधारा में कोई अंतर नहीं दिखाई पड़ता है। लेकिन वोटरों के व्यवहार के इस साधारण विचार को आज के दौर में अनेक उदाहरणों से न केवल चुनौती दी गई है बल्कि अनेक कारणों से खारिज भी किया गया है।

पहली बात तो यह है कि मीडियन वोटर का विचार किसी खास मुद्दे पर तो लागू हो सकता है लेकिन दूसरे जटिल मुद्दे जो एक-दूसरे से जुड़े हुए होते हैं, वहां पर ऐसा होना संभव नहीं है। एक ही वोटर के विचार, अलग-अलग मुद्दों पर एक जैसी सोच नहीं रख सकते हैं। ऐसे में राजनीतिक दल चुनाव जीतने के लिए, वोटर की सोच के अनुसार अपनी रणनीति में भी समय-समय पर बदलाव करते रहते हैं। जिससे कि वोटर का भरोसा राजनीतिक दल पर बना रहे।

लेकिन जब कोई मुद्दा, वोटर के जीवन के बहुत करीब होता है, तो वहां पर राजनीतिक दलों के लिए स्थितियां काफी जटिल हो जाती हैं। उदाहरण के तौर पर किसी दो प्रमुख मुद्दों के लिए तीन राजनीतिक दल वोटर को लुभाने के लिए कोशिश कर रहे हैं, तो ऐसी स्थिति में वोटर की स्थिति क्या होगी, यह काफी जटिल मुद्दा बन जाता है। इन परिस्थितियों में हम देखते हैं कि वोटर ऐसे राजनीतिक दलों के करीब पहुंच जाता है, जिनका विचारधारा के मसले पर नरमवादी रवैया रहता है। मोटे तौर पर तो हम यह कह सकते हैं कि तीन

राजनीतिक दलों वाली चुनाव प्रणाली में दलों के बीच बड़े पैमाने पर विचारधारा को लेकर मतभेद होने चाहिए। लेकिन हकीकत में ऐसा नहीं होता है। विपरीत विचारधारा वाले राजनीतिक दल भी वोटर को साथ लाने के लिए किसी खास नीति के तहत एक साथ आ जाते हैं। ऐसे में वोटर इन दोनों के बीच फंसा हुआ महसूस करता है। इन उदाहरणों से साफ है कि मीडियन वोटर सिद्धांत कुछ मामलों में सही साबित हो जाए लेकिन वास्तविक राजनीति कहीं ज्यादा जटिल दिखाई देती है।

तार्किक मतदाता का मिथक

ब्लैक व सार्वजनिक चयन सिद्धांत के आरंभिक विचारकों द्वारा राजनैतिक दलों की वोटरों को लुभाने और मौकापरस्त होने की जो छवि तैयार की थी यदि वैसा नहीं भी है तब भी राजनैतिक प्रक्रियाओं को लेकर बहुत अधिक आशावादी होना समझदारी नहीं है। साल 2007 में अमेरिकी अर्थशास्त्री ब्रायन कैपलैन ने उस विचार को चुनौती दी, जिसमें यह माना गया था कि वोटर वोट देने के लिए बहुत जागरूक और तार्किक होता है। ब्रायन ने इसके उलट यह बताया कि वोटर कई गैर जरूरी भ्रांतियों में फंसा रहता है। वह अपने विचार पर इसलिए अडिग रहता है क्योंकि उसे पता होता है कि किसी कार्यक्रम या प्रोजेक्ट पर होने वाले खर्च का भार केवल उसे नहीं उठाना पड़ेगा, बल्कि यह पूरी जनता में बंटेगा।

वोटर सबसे ज्यादा अपना रोजगार खोने से डरता है। इसलिए वह कृषि और दूसरे उद्योगों को दी जाने वाली सब्सिडी के वादे पर वोटर देता है। वह यह भूल जाता है कि अगर नई सरकार तकनीकी और उत्पादकता को बढ़ावा देगी तो उसकी आय भी बढ़ेगी और उसके लिए नौकरी के अवसर भी पैदा होंगे। वोटर एक अच्छा अर्थशास्त्री नहीं होता है, ऐसे में वह अच्छी और बुरी आर्थिक नीति के असल प्रभाव को समझ नहीं पाता है और सब्सिडी जैसे तात्कालिक लाभ से प्रभावित हो जाता है। दूसरी बात ब्रॉयन कैपलेन ने यह बताई कि वोटर विदेशियों को अपनी नौकरी के लिए सबसे बड़ा खतरा मानते हैं। ऐसे में वह मुक्त व्यापार का हमेशा विरोध करते हैं। तीसरी अहम बात यह है कि वह अर्थव्यवस्था की समस्या को समझने की जगह उसको बढ़ा-चढ़ा कर पेश करते हैं। वह यह भूल जाते हैं कि मौजूदा समस्या थोड़े समय के लिए हैं, लंबी अवधि में वह ठीक हो

जाएंगी। चौथी अहम बात यह है कि वह बाजार के फायदे को कमतर आंकते हैं और राजनीतिक प्रयास को कहीं ज्यादा तवज्जो देते हैं।

ऐसे में हम सरकार की असफलता को लोकतांत्रिक प्रणाली की असफलता के साथ जोड़ देते हैं। हम देखेंगे कि कैसे सरकार के फैसले वोटिंग प्रणालियों की वजह से बदल जाते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि फैसलों पर राजनेताओं, नौकरशाह, अपने हित साधने के लिए बने संगठित समूह का प्रभाव रहता है। यही नहीं कई बार अगर राजनेता, नौकरशाह जन इच्छा के अनुसार नीतियां भी बनाते हैं तो भी वह फैसले तर्कसंगत नहीं होते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि वोटर मुद्दों को जांच-परख कर तर्कों के आधार पर वोट नहीं देते हैं। बाजार की असफलता और उसके कारण को लेकर कई सारे सिद्धांत तैयार किये गए है, और उन सभी में एक बात सामान्य है कि बाजार की असफलता को ठीक करने के लिए सरकार हमेशा एक अच्छा विकल्प नहीं हो सकती है। राजनीतिज्ञ और नौकरशाह अच्छी तरह से जानते हैं कि घाटे वाले बिजनेस को बंद करने के लिए क्या करना चाहिए। लेकिन वह वोटर के अतार्किक व्यवहार की वजह से ऐसे कदम उठाते रहते हैं, जिससे बिजनेस को कोई फायदा नहीं मिलने वाला है। इसी के तहत वह आर्थिक सब्सिडी जैसे लुभावने कदम उठाकर वोटर को खुश करने की कोशिश करते हैं। इसीलिए कहा गया है कानून बनाना उसी तरह जटिल है जैसे कि सॉस (चटनी) बनाना होता है।

5. अल्पमत समूहों का उत्पीड़न

बाजार और राजनीति में यह सबसे बड़ा अंतर है कि बाजार आप पर किसी वस्तु की खरीदारी के लिए दबाव नहीं बना सकता है। यानी अगर वस्तु आपको पसंद है तो आप उसके लिए मोल-भाव कर सकते हैं, साथ ही अगर मोल-भाव मन के मुताबिक नहीं है तो वस्तु नहीं खरीदने का फैसला कर सकते हैं। लेकिन राजनीति में ऐसा नहीं होता है। एक बार बहुमत ने एक फैसला कर लिया तो हर आदमी को उसे स्वीकार करना पड़ता है, भले ही आपको वह फैसला नहीं पसंद है। उदाहरण के तौर पर किसी फैसले का विरोध अगर आप टैक्स देकर नहीं करते हैं, तो प्रशासन आप पर दबाव बनाता है। किसी भी सूरत में दबाव या उसे जबरदस्ती लागू करने की धमकी जायज नहीं है। लेकिन बहुमत वाली शासन प्रणाली की सबसे परेशान करने वाली बात यही है कि राज्य के सहयोग से अल्पमत पर कोई भी फैसला थोपा जा सकता है। इसके तहत अल्पमत समूह पर ज्यादा टैक्स लगाना हो या फिर उनकी स्वतंत्रता पर अंकुश लगाना हो यह सारे कदम राज्य की शक्तियों के नाम उठाए जा सकते हैं। यह ठीक उसी तरह है, जैसे बिल्ली को दूध की रखवाली करने को कहा जाए। हालांकि एक बात और समझनी होगी कि बहुमत वोटिंग वाली प्रणाली में ऐसा नहीं है कि हमेशा बहुमत समूह अल्पमत समूह का शोषण करता है। कई बार ऐसा भी होता है कि छोटे अल्पमत वाले समूह गठबंधन बनाकर, बहुमत तैयार कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में वह अपनी योजना या इच्छा को बहुमत समूह पर लागू करते हैं। यह खास तौर पर विधायिका के चुनाव के दौरान होता है।

संकेंद्रीत और विस्तारित हित

यह बहुत हद तक अवश्यसंभावी है कि अपने हित को पूरा करने के लिए समूह या संगठन बेहद प्रभावी रुप से अभियान चलाते रहते हैं। लेकिन मैनकर ऑल्सन

और विलियम एच.राइकर इस विचार का गहन अध्ययन सार्वजनिक चयन के आर्थिक सिद्धांत के नजरिए से किया है।

इसके लिए उन्होंने टमाटर की खेती करने वाले किसान या ओपेरा हाउस का उदाहरण लिया। इसके तहत किसान या कारोबारी अपने हितों की रक्षा चाहते थे। ऐसे में उनको संगठित होने में अपनी बात मजबूती से लागू कराने का फायदा दिखता था। पहले जब वह संगठित नहीं थे, उस वक्त उनकी किस्मत सामूहिक फैसले पर निर्भर रहती थी। यानी अगर बहुमत का फैसला उनके समर्थन में आया तो उन्हें फायदा मिलता था, वहीं फैसला अगर विरोध में आया तो उन्हें नुकसान होता था। ऐसे में राजनीतिक रूप से संगठित होने में ही फायदा दिख रहा था।

इसके विपरीत उपभोक्ता या टैक्स देने वालों का भी समूह था, जो कि संख्या में तो काफी बड़ा था लेकिन वह आपस में संगठित नहीं थे। उनके संगठित नहीं होने की एक बड़ी वजह, उनको न मिलने वाला फायदा था। वह अपनी ऊर्जा किसी अभियान के लिए नहीं लगाते हैं। ऐसे में बहुमत में होने के बावजूद हर व्यक्ति का फैसला सामूहिक नहीं होकर अल्पमत में बदल जाता है। इस तरह के समूहों की समस्या यह भी है कि वह आपने आपको संगठित नहीं कर पाते हैं। ऐसे में वह किसी लॉबिंग का हिस्सा नहीं बन पाते हैं। इन परिस्थितियों में परिणाम यह होता है कि छोटे समूह कहीं ज्यादा प्रभावकारी हो जाते हैं और उसका असर सामूहिक फैसले पर दिखता है। जबकि बहुमत वाले समूह के हित बेकार हो जाते हैं।

टमाटर कारोबारियों के उदाहरण से समझें तो अगर टमाटर के आयात पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है, तो इस फैसले का उपभोक्ताओं पर बहुत थोड़ा असर होगा। इसी तरह अगर किसी कंपनी को ओपेरा हाउस खोलने की अनुमति दे दी जाय तो कंपनी का फायदा दोगुना हो जाएगा, लेकिन उसके बदले आम आदमी पर टैक्स का बहुत थोड़ा ही बोझ पड़ेगा। लेकिन यह थोड़ा-थोड़ा टैक्स बहुमत समूह के आधार पर बहुत ज्यादा हो जाता है। ऐसे में अगर बड़ी सरकार, ज्यादा नियम, अधिक सब्सिडी और ऊंचा टैक्स रेट जैसे असर आपको दिखते हैं तो यह समझना चाहिए अल्पमत समूह अपने हितों को बहुमत समूह के नाम पर साध रहा है। ऐसे में राजनीतिक प्रक्रिया को लेकर एक बार फिर निराशा हाथ लगती

है।

हित साधक समूहों की राजनीति

लॉबिंग समूह को हमेशा से यह पता होता है कि उनके मुद्दे जनता या राजनेताओं को तब तक प्रभावित नहीं कर सकते हैं, जब तक वह उनको सीधे प्रभावित नहीं करेंगे। ऐसे में वह जनता और राजनेताओं की भाषा में अपने मुद्दों के समर्थन के लिए अभियान चलाते हैं। मसलन टमाटर कारोबारी आयात पर प्रतिबंध लगाने के लिए जनता के बीच यह कहकर जाते हैं, कि विदेश से आने वाले टमाटर न केवल गुणवत्ता में खराब है बल्कि संक्रमण भी फैलाते हैं, ऐसे में उसके आयात पर प्रतिबंध लगना जरूरी है। यही नहीं ऐसा करने से किसानों की आय भी बढ़ेगी और रोजगार के अवसर बढ़ेंगे। इसी तरह ओपेरा हाउस के लिए वह यह दावा करते हैं कि अगर उनके शहर में ओपेरा हाउस खुलेगा तो पर्यटन बढ़ेगा, जिसका फायदा स्थानीय लोगों को ही मिलेगा।

एडम स्मिथ ने साल 1776 में ही कह दिया था कि ऐसे तर्कों की समीक्षा न केवल ईमानदारी पूर्वक करनी चाहिए बल्कि उनका परीक्षण बेहद सतर्कता के साथ करना चाहिए जिससे कि सही मंशा सामने आ सके। हकीकत यह है कि छोटे लॉबिंग समूह सार्वजनिक स्तर पर अपने मुद्दों को ज्यादा तूल देते हैं। साथ ही वह जनता के बीच ज्यादा बेहतर रूप से तैयार और सुनियोजित दिखते हैं। इस कारण राजनीतिज्ञ भी उनके मुद्दों को जरूरत से ज्यादा तवज्जो देते हैं। ऐसे में छोटे समूहों के हितों के पूरा होने का रास्ता तैयार हो जाता है, भले ही ऐसा करने से बहुमत समूह को नुकसान होता हो, फिर भी उसके विरोध में आवाज नहीं उठ पाती है। लॉबिंग करने वाले समूह को अपने पक्ष में समर्थन जुटाने के लिए न केवल पूंजी की सहायता मिलती है, बल्कि वह इसके लिए राजनेताओं के चुनावी अभियान को भी आर्थिक सहायता देने से पीछे नहीं हटते हैं। सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारकों का मानना है कि लॉबिंग समूह के साथ चलने में राजनीतिज्ञों के भी हित जुड़े होते हैं। इसी वजह से प्रतिनिधित्व वाली चुनाव प्रणाली में छोटे समूह कहीं ज्यादा प्रभावी भूमिका निभाते हैं।

हालांकि हमें यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिए कि हित साधने के लिए समूह जो सार्वजनिक अभियान चलाते हैं, वास्तव में वहीं उनकी मंशा होती

है। असल में बंद कमरों में उनकी असली मंशा जाहिर होती है। ऑल्सन इस बात को समझाते हुए कहते हैं कि समझौते की प्रक्रिया अपारदर्शी होने की वजह से लॉबिंग करने वाले और राजनीतिज्ञ अपने हितों के लिए गुप्त समझौते करते हैं। लॉबिंग करने वाले समूह और राजनेता बंद कमरों में ये गुप्त समझौते करते हैं। जो उनके हितों को साधने का काम करते हैं। लेकिन इस कवायद में उपभोक्ता और कर देने वाले लोगों के हित कहीं पीछे छूट जाते हैं। क्योंकि वह बंद कमरों में होने वाले समझौते का हिस्सा नहीं बन पाता है।

संगठनात्मक समस्या

छोटे समूह की एक अहम खासियत यह होती है कि उन्हें आसानी से संगठित किया जा सकता है। इसकी एक बड़ी वजह यह है कि संख्या में कम होने की वजह से उनके हित आसानी से मिल जाते हैं। लेकिन चूंकि उनकी संख्या कम होती है, ऐसे में उनके लिए अपने अभियान के लिए धन राशि जुटाना बहुत मुश्किल होता है। क्योंकि बिना धन राशि जुटाए, उनके लिए प्रशासनिक और आम जनता में पैठ बनाना मुश्किल हो जाता है। वहीं इसकी तुलना में ज्यादा सदस्यों वाले समूह के लिए पूंजी जुटाना कहीं ज्यादा आसान हो सकता है लेकिन इस समूह की दिक्कत यह होती है कि ज्यादातर सदस्य धनराशि जुटाने का काम दूसरो के उपर डालते हैं। उन्हें ऐसा लगता है कि अगर लॉबिंग करने वाले अपने हित साधने में सफल हो जाएंगे तो उन्हें बिना कुछ किये उसका फायदा मिल जाएगा। ऐसे में वह चाहे धन राशि जुटाने के लिए प्रयास करें या नहीं करे, उन्हें फायदा तो मिल ही जाएगा। इसीलिए बड़े समूह में मुफ्तखोरी की प्रवृत्ति ज्यादा दिखाई देती है।

बड़े हित साधक समूह अगर अपने फायदे को केवल उन लोगों तक सीमित कर दें, जो लॉबिंग के लिए कोशिश करते हैं, तो उस स्थिति में मुफ्त में फायदा उठाने वालों को समूह से दूर रखा जा सकता है। पेशेवर संगठन या एसोसिएशन, श्रमिक संगठन, उत्पादकों के संघ और प्रमुख राजनीतिज्ञों को अपने समूह में शामिल कर, लॉबिंग समूह न केवल आसानी से धन राशि जुटा सकते हैं बल्कि उनकी साख भी अपने सदस्यों के बीच मजबूत होती है। ऐसे प्रभावशाली सदस्य समूह से जुड़े रहने के लिए सब्स्क्रिप्शन फीस देने में सक्षम होते हैं। ऐसे सदस्यों

के जुड़ने का फायदा यह होता है कि वह राजनीतिक रुप से फायदा ले सकते हैं, साथ ही टैक्स लगाने आदि में भी उनके रसूख का फायदा मिलता है। ऐसे में क्या लॉबिंग समूह को ऐसे लोगों के लिए सीमित कर देना चाहिए। उदाहरण के तौर पर डॉक्टर या वकील जैसे सदस्य समूह लाइसेंसिंग की व्यवस्था हो जाने पर अपने क्षेत्र में कार्य करने वाले लोगों की संख्या सीमित करा सकते हैं। इसके परिणाम स्वरूप वे अपनी फीस बढ़ा सकते हैं और अपने कार्यों को 'अयोग्य' प्रतिस्पर्धियों के हाथ में जाने से रोक सकते हैं।

गठबंधन का निर्माण

छोटे समूह को संगठित करना हमेशा से आसान रहता है। यही नहीं यह लोग राजनीतिक बहस में ऐसे लोगों को प्रभावित करने में भी सफल रहते है जो जनमत बनाने में अहम भूमिका निभाते हैं। लेकिन प्रतिनिधित्व वाले लोकतंत्र में ऐसा करने की बहुत आवश्यकता नहीं पड़ती है। बुकानन और टुलॉक ने अपने अध्ययन में यह पाया कि ऐसे छोटे समूह थोड़े से (एक चौथाई) वोटर को ही प्रभावित कर पाते हैं। क्योंकि बड़े वोटर वाले समूह में ज्यादातर लोग असंगठित और मुद्दों से दूरी बनाकर रखने वाले लोग होते हैं। सोचिए अगर किसी देश में 100 से ज्यादा संसदीय क्षेत्र हैं और प्रत्येक में 10 हजार वोटर है, तो सत्ता में आने के लिए किसी भी राजनीतिक दल को साधारण बहुमत के आधार पर 51 सीटों की जरूरत होगी। साथ ही इन 51 सीटों पर राजनीतिक दल को हर सीट पर केवल 5001 वोट की जरूरत होगी। अगर वोटर की संख्या 10 लाख है तो उसे चुनाव जीतने के लिए केवल 2,55,051 वोटों की जरूरत होगी।

ज्यादातर अपने हित साधने वाले समूहों के पास सदस्यों की संख्या बहुत कम होती है, इसी तरह वह जीतने के लिए जरूरी वोट का आकलन नहीं कर पाते हैं। लेकिन अगर किसी चुनाव में ज्यादातर वोटर वोट नहीं देने का फैसला करते हैं या फिर उनके वोट बंट जाते हैं, तो आसानी से अल्पमत समूह वालों के पक्ष में चुनाव परिणाम आ जाते हैं।

ऐसे में कई अल्पमत समूह गठबंधन बनाकर अपने वोट की ताकत को बढ़ा सकते हैं और प्रतिनिधित्व वाली चुनाव प्रणाली में अपना प्रभाव जमा सकते हैं। इसके तहत वह समझौता कर सकते हैं कि आपस में मिलकर नए गठबंधन

को चलाएंगे या फिर मुद्दों के आधार पर एक-दूसरे का समर्थन करते रहेंगे। असल में गठबंधन कैसा स्वरूप लेगा वह चुनाव प्रणाली पर निर्भर करता है। एक दूसरा विकल्प भी तैयार होता है। जिसमें अलग-अलग विचारधारा वाले राजनीतिक दल अपने मतभेदों को भुलाकर चुनाव से पहले गठबंधन बना लेते हैं। ऐसे में यह गठबंधन इतना मजबूत हो जाता है कि वह विपक्ष को चुनौती देने लगता है। वहीं दूसरे तरीके में छोटे राजनीतिक दल रणनीतिक समझौता कर लेते हैं। इसके तहत वह कुछ संसदीय क्षेत्र में एक-दूसरे के खिलाफ उम्मीदवार नहीं खड़ा करते हैं। जिससे कि उनकी जीत सुनिश्चित हो जाए। यूरोप और दूसरे देश जहां पर आनुपातिक चुनाव प्रणाली है, वहां पर बहुदलीय राजनीतिक व्यवस्था है। इन देशों में चुनाव के बाद राजनीतिक दल परिस्थितियों को देखते हुए गठबंधन बनाते हैं। ऐसे में जब चुनाव आते हैं तो वोट मैनेजर विभिन्न राजनीतिक दलों के जनाधार को देखते हुए यह आकलन करते है कि किस तरह विभिन्न दलों का गठबंधन बनाकर बहुमत हासिल किया जा सकता है। और कौन सा गठबंधन फायदेमंद होगा।

विलियम एच.राइकर ने गठबंधन के विभिन्न विकल्पों का विस्तार से अध्ययन किया है। साथ ही यह भी बताया है कि क्यों अलग-अलग दलों द्वारा बनाया गया महागठबंधन टिकाऊ नहीं होता है और बहुत जल्द ही बिखर जाता है। इसी के साथ अर्थशास्त्रियों ने इन सवालों को समझने के लिए "गेम थ्योरी या खेल सिद्धांत" का इस्तेमाल किया है। जिसके बहुत रोचक परिणाम सामने आए हैं।

गठबंधन का व्यवहार

गठबंधन को लेकर सबसे अहम सवाल यही होता है कि कौन से राजनीतिक दल मिलकर गठबंधन बनाएंगे और यह गठबंधन कितना टिकाऊ होगा। राइकर ने इस सवाल का अध्ययन करते हुए बताया कि राजनीतिक दल बड़े गठबंधन बनाने की बजाय, छोटे गठबंधन को तरजीह देते हैं। क्योंकि इसका फायदा यह होता है कि जब गठबंधन में दलों की संख्या कम होती है तो उसमें दलों द्वारा अलग-अलग स्तर पर अपने एजेंडा चलाने की संभावना कम रहती है। ऐसे में गठबंधन अस्थिर नहीं हो पाता है। कम दलों के रहने पर एक-दूसरे से तालमेल

बिठाना आसान रहता है।

मोटे तौर पर यह सिद्धांत प्रशंसनीय लगता है, लेकिन हकीकत यह है कि विश्व युद्ध के बाद यूरोप के बहुदलीय राजनीतिक प्रणाली वाले देशों में इस तरह के गठबंधन से आधे से भी कम सरकारें बनी है। यह सिद्धांत यूरोप और दूसरे देशों में बनने वाली अल्पमत वाली सरकारों की व्याख्या नहीं कर पाया। बल्कि इन सरकारों के विषय में डच समाज विज्ञानी और विशेषज्ञ पीटर वैन रोजीनडाल ने कही बेहतर व्याख्या की है। उनके अनुसार गठबंधन बनाते समय छोटे राजनीतिक दल हमेशा एक ऐसे दल के साथ जुड़ना चाहते हैं जिनका बड़ा जनाधार होता है। वह कभी भी अपने जैसे छोटे दलों के साथ गठबंधन नहीं बनाना चाहते हैं। ऐसे में हमेशा बड़ा राजनीतिक दल गठबंधन का मुख्य केंद्र रहता है। कई बार छोटे दल अल्पमत की सरकार बना भी लेते हैं और जरूरत के अनुसार छोटे-छोटे दलों को अपने साथ जोड़ता रहता है।

अल्पमत सरकार लंबे समय तक टिकने वाली नहीं होती है। हालांकि राजनीति जैसी दिखती है, वैसी हमेशा बनी रहे, ऐसा होता नहीं है। ऐसे में आम जनता का कोई एक मुद्दा इतना प्रभावकारी होता है, कि वैसी परिस्थिति में सभी लोग एक ही पैमाने पर आ जाते हैं और कई बार एक से ज्यादा मुद्दे विभिन्न लोगों के लिए बहुत मायने रखते हैं, ऐसे में जनमानस बंट जाता है। इस स्थिति में गठबंधन को बचाए रखना बहुत मुश्किल हो जाता है।

गठबंधन से लेकर वोट की खरीद फरोख्त तक

सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारकों ने "खेल सिद्धांत" के जरिए गठबंधन के एक अहम पहलू को सामने रखा। उसके अनुसार जब किसी समाज में गतिशीलता ज्यादा होती है, तो वहां सामाजिक भेदभाव कम होता है, ऐसी परिस्थिति में गठबंधन टिकाऊ नहीं होता है, उसके उलट अगर समाज में भेदभाव स्थायी है तो गठबंधन ज्यादा टिकाऊ होता है। लेकिन अगर वहां पर सामाजिक बदलाव तेजी से हो रहे तो मजबूत गठबंधन की संभावना बेहद कम रह जाती है।

इसके अलावा यह सिद्धांत यह भी बताता है कि अगर किसी देश में मतदाताओं की संख्या ज्यादा होती है तो वहां पर गठबंधन कम टिकाऊ होता है। ऐसे में दोनों सिद्धांत यह मानते हैं कि जहां पर जनसंख्या एक जैसी होती है, तो

गठबंधन को टिकाऊ बनाए रखना आसान होता है। इसीलिए स्कैंडेनेवियन देशों में जहां आबादी कम है, लोग ज्यादा रुढ़िवादी है और एक जैसी सोच वाले हैं, वहां पर सरकार ज्यादा स्थायी होती हैं। उसके उलट जहां पर बड़ा समाज होता है, वह गतिशील है और विविध जातियां हैं, वहां पर स्थायित्व कम रहता है। लेकिन जनप्रतिनिधत्व वाली व्यवस्था में अल्पमत समूह, जिसका लगातार शोषण हो रहा है, वह कितने दिन तक शांत रह सकता है? हितों को चोट करने वाले कानून, ज्यादा कर की वसूली, उनके विरोध करने की वजह बन जाते हैं। अहम बात यह है कि बहुमत के लिए बनने वाले कानून और उसकी लॉबिंग का जो खर्च आता है, उसका बोझ भी अल्पमत समूह पर उसकी इच्छा के विरूद्ध पड़ता है। इन सब के बावजूद दुख की बात यह है कि उपभोक्ता और टैक्स देने वाले लोग इसके विरोध में एकजुट नहीं हो पाते हैं। ऐसे में जैसे-जैसे सरकार के कार्यक्रमों का विस्तार होता है, तो राजनीतिक रूप से सक्रिय समूह और लॉबिंग करने वाले समूहों का भी प्रसार होता जाता है। इन परिस्थितियों में बहुमत लंबे समय तक चुप ही रह जाता है।

6. वोट का बाजारः खरीद फरोख्त

हित समूहों की राजनीति के अलावा किसी एक मुद्दे पर आधारित गठबंधन तैयार करना भी राजनीति के क्षेत्र की एक अन्य कला है। राजनीति एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। इसके तहत समय-समय पर ऐसे मुद्दे सामने आ जाते हैं, जहां पर कई बार राजनेताओं या राजनीतिक दलों को अपने हितों के लिए अलग-अलग मतों वाले मुद्दों पर एक-दूसरे के साथ आना पड़ता है।

कई बार अलग-अलग समूह या राजनीतिक दल किसी एक खास मुद्दे पर सहमत होकर बहुमत बनाते हैं। उदाहरण के तौर पर अपने क्षेत्र में बेहतर सड़क हो, ऐसी इच्छा अलग-अलग राजनैतिक सोच रखने वाले सभी लोग रख सकते है। सड़क बनाने का प्रस्ताव पारित हो जाए, इसके लिए प्रस्ताव लाने वाला राजनीतिक दल, दूसरे समूह या दल से इस आधार पर वोट का सौदा कर लेता है कि आप हमें सड़क बनाने के लिए समर्थन करें, हम आपके लिए भी इस तरह का समर्थन जरुरत पड़ने पर जल्द ही करेंगे।

संयुक्त राज्य अमेरिका में वोट के इस तरह के समझौते को सौदा (लेन-देन) या लॉग रोलिंग कहा जाता है। वोट के इस सौदे को, उस पुराने सहयोग के तरीके से भी समझा जा सकता है जब लोग अपने पड़ोसियों की मदद, घर के सामने गिरे पेड़ों को हटाने में किया करते थे। क्योंकि अकेले उन पेड़ों को हटाना किसी के लिए आसान नहीं हुआ करता था।

वोटों का अंतर्निहित और प्रत्यक्ष सौदा

अगर कानून निर्माता सड़क बनाने के लिए, अलग से कानून लाना चाहते हैं, लेकिन उसके लिए उनके पास जरूरी बहुमत नहीं है, तो वह दूसरे सदस्यों से खुले तौर पर वोट का सौदा (लेन-देन) कर समर्थन हासिल कर लेते हैं। यह

तरीका प्रत्यक्ष वोट का सौदा या लॉगरोलिंग कहलाती है। लोकतंत्र में इस तरह के समझौते करना एक सामान्य प्रक्रिया है। इसमें पारस्परिक लाभ के लिए दोनों पक्ष साफ तौर से जानते हैं कि वह वोट के सौदों (लेन-देन) से क्या हासिल करेंगे। लेकिन प्रत्यक्ष सहयोग का यह तरीका गुप्त मतदान या फिर बड़े राजनीतिक दलों या समूह में बहुत अच्छे तरीके से सफल नहीं हो पाता है। ऐसा इसलिए हैं क्योंकि इन परिस्थितियों में राजनीतिक दलों के सदस्यों को अनुशासित रखना मुश्किल हो जाता है।

विभिन्न मुद्दों पर सहमति बनाकर वोटिंग का एक और तरीका अंतर्निहित वोटों का सौदा (लेन-देन) कहलाता है। इसके तहत अलग-अलग समूह किसी एक मुद्दे पर सहमति नहीं बनाते हैं बल्कि वह अपने मुद्दे का अलग-अलग प्रस्ताव बनाकर उसे एक विधेयक का रुप देते हैं। यानी विभिन्न मुद्दों का विधेयक के रुप में एक पैकेज तैयार हो जाता है। इस तरीके में कोई सांसद भले ही किसी एक मुद्दे पर ही अपनी मजबूत सहमति रखता है लेकिन वह उसे पारित कराने के लिए दूसरे मुद्दों का भी समर्थन करता है। इस प्रकार वोट के सौदे (लेन-देन) की प्रक्रिया अक्सर होती रहती है। खास तौर से जब कोई राजनीतिक दल चुनावी घोषणा पत्र या उसी से जुड़ा हुआ कोई विधेयक लाता है।

उदाहरण के तौर पर जब अमेरिकी राष्ट्रपति ड्वाइट आइजनहॉवर ने अंतरराज्यीय राजमार्ग योजना का पैकेज तैयार किया था। जिसका फायदा कई राज्यों के लोगों को होने वाला था। इस वजह से कांग्रेस के सदस्यों ने इस विधेयक का समर्थन किया क्योंकि इससे उनके राज्य को बेहतर सड़कों का फायदा मिलने वाला था। सदस्यों के इस फैसले से पूरे राजमार्ग नेटवर्क का भी समर्थन हासिल हो गया । अंतर्निहित वोटों का सौदा सांसदों के लिए बहुत फायदेमंद साबित होता है। इसके जरिए न केवल वह अपने हितों से संबंधित मुद्दों को शामिल कर बड़े पैमाने पर समर्थन हासिल कर लेते हैं, बल्कि उनके ऊपर पूरे पैकेज का उत्तरदायित्व भी नहीं आता है। वह बहुत आसानी से कह सकते हैं कि उन्होंने यह समझौता इसलिए किया, क्योंकि वह चाहते थे कि उनके क्षेत्र में सड़कों की स्थिति बेहतर हो। इसलिए वह दूसरे मुद्दों का समर्थन के लिए मजबूर हुए। फूड स्टाम्प्स एंड फॉर्म विधेयक अंतर्निहित वोट के सौदे (लेन-देन) का सबसे बेहतरीन उदाहरण है। ऐसे में यह स्वीकार करने में कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि वोट

का सौदा (लेन-देन) , अब लोकतांत्रिक प्रक्रिया का एक अहम हिस्सा बन गया है।

लेकिन अंतर्निहित वोट का सौदा (लेन-देन) की तुलना में प्रत्यक्ष वोटों का सौदा कहीं ज्यादा पारदर्शी है। ऐसा इसलिए है क्योकि अंतर्निहित वोट के सौदे में पैकेज पर समर्थन पाने के लिए कई बार बंद दरवाजों के बीच समझौते किए जाते है। जबकि प्रत्यक्ष वोट के सौदों में कम से कम यह देखा जा सकता है कि वोट के लिए किस तरह के सौदे या समझौते हुए हैं।

हालांकि कई बार प्रत्यक्ष वोट के सौदे (लॉगरोलिंग) उतने स्पष्ट नहीं होते हैं। जहां पर कई बार ऐसे मुद्दे सामने आते हैं, जिस पर सांसद बिना कुछ कहे आपसी समझ से फैसले लेते हैं। सांसद अपने साथी के प्रोजेक्ट का इस उम्मीद में वोट के माध्यम से समर्थन कर देते हैं, कि उनका साथी उनके इस समर्थन को याद रखेगा और इसके बदले में समय आने पर वोट के जरिए उनका भी समर्थन करेगा। यह प्रक्रिया वास्तव में इतनी अंतर्निहित (सूक्ष्म) होती है कि कई बार जन प्रतिनिधि यह अहसास ही नहीं कर पाता कि वह क्या कर रहा है ? गॉर्डन ट्यूलॉक ने एक ब्रिटिश सांसद का उदाहरण देते हुए इसे समझाया है। सांसद को यह जानकर झटका लगता है कि वोट का भी सौदा (लॉगरोलिंग) होता है, साथ ही वह इस बात से भी इंकार करते हैं कि उसने समर्थन हासिल करने के लिए सौदेबाजी भी की हैं। हालांकि जब उन्हें विस्तार से यह समझाया गया कि कैसे उन्होंने समर्थन हासिल करने के लिए दूसरे सांसदों पर दबाव बनाया। उनका दबाव बनाने का एकमात्र उद्देश्य यही था कि वह अपने पक्ष में सांसदों का समर्थन चाहते थे। तब जाकर उन्हें वोट के सौदे (लॉगरोलिंग) का अहसास होता है।

वोटों की खरीद फरोख्त का प्रचलन

जन प्रतिनिधित्व वाली राजनीति में वोटों की खरीद फरोख्त एक सामान्य प्रक्रिया है। यह खास तौर से संयुक्त राज्य अमेरिका में कहीं ज्यादा सामान्य बात है। क्योंकि वहां का संघीय ढांचा, कांग्रेस सदस्यों को अपने राज्य, जिले के मुद्दों को तरजीह देने के लिए बाध्य करता है। सांसदों के लिए राष्ट्रीय पार्टी के मुद्दे, उनके स्थानीय मुद्दों के बाद ही महत्व रखते हैं। लेकिन अमेरिका की तरह यूरोप में इस तरह की प्रवृत्ति आम नहीं है क्योंकि वहां पर पार्टी का अनुशासन कहीं ज्यादा मायने रखता है। लेकिन प्रत्यक्ष वोटों के लेन-देन वाली प्रवृत्ति यूरोपीय संघ के

स्तर पर कहीं ज्यादा खुल कर सामने आ जाती है। क्योंकि वहां पर अपने हितों के लिए यूरोपीय देश कहीं ज्यादा मुखर होकर मोल-तोल करते हैं।

उदाहरण के तौर पर यूरोपीय संघ की नई संस्थाओं और उनके उच्च पद अलग –अलग देशों के पास हैं। मसलन इन्वेस्टमेंट बैंक लक्जमबर्ग में स्थित है, सेंट्रल बैंक फ्रैंकफर्ट में स्थित है तो संसद ब्रसेल्स और स्ट्रासबर्ग में स्थित है। हर रोज यूरोपीय संघ को कोई फैसला करने से पहले आम सहमति की आवश्यकता होती है। आम सहमति बनाने के नियम की वजह से यूरोपीय संघ को कई मुद्दों पर फैसले लेने की अड़चन आती है। क्योंकि अपने हितों को देखते हुए कोई भी देश नीतिगत मुद्दों पर होने वाले समझौते को रोकने की धमकी दे सकता है। ऐसे में बहुमत की कमी की वजह से कई नीतियां अटक जाती हैं। यह परिस्थितियां निश्चित रुप से वोट के सौदे (लॉगरोलिंग) का मौका देती हैं। आम सहमति के नियम से यूरोपीय संघ के सदस्य देशों के पास वीटो की शक्ति आ जाती है। इसके जरिए वह ऐसे किसी भी कदम को रोक सकता है, जो उसके हितों की अनदेखी करता है। लेकिन वीटो की शक्ति हर सदस्य को वोट के मोल-तोल का भी मौका देती है। जो कई बार बहुमत जुटाने के लिए काफी महंगी भी साबित होती है। वीटो की यह शक्ति सभी सदस्यों को कई तरह की छूट लेने के लिए प्रेरित करती है। इसका परिणाम यह होता है कि कई बार एकतरफा नीतियां बनती है और हमेशा बजट को लेकर दबाव बना रहता है। यूरोपीय संघ के फैसले लेने के तरीकों ने जन इच्छा सिद्धांत के विचारकों को कई अहम अध्ययन करने का मौका दिया। उनका मानना है कि राजनीतिक दलों के गठन और चुनाव कार्यक्रम सहित कई स्तर पर अंतर्निहित वोट के सौदों (लॉगरोलिंग) के गुण पाए जाते हैं। राजनीतिक दल ऐसे लोगों का समूह होता है जो अपने हितों को पूरा करने के लिए एक-दूसरे के साथ सहयोग करने के लिए राजी होते हैं। ऐसे लोगों के जरिए एक बड़ा समूह तैयार हो जाता है, जिसकी एकजुटता उनकी ताकत बन जाती है। यह भी हकीकत है कि राजनीतिक दलों के सदस्यों में कई बार विभिन्न मुद्दों पर सहमति नहीं बन पाती है, साथ ही यह असहमति इतनी ज्यादा बढ़ भी सकती है, जिससे कि पार्टी टूट जाए। जब राजनैतिक दल अपने चुनाव कार्यक्रम या घोषणा पत्र से वोटर को लुभाने के लिए वोट का सौदा करते हैं। वह चुनाव को प्रभावित करने वाले मजबूत समूहों को अपने नीतियों के जरिए लुभाने की कोशिश करते हैं। तो

कई बार उनकी प्रस्तावित नीतियां वोटर को नहीं लुभाती हैं, ऐसी स्थिति में वह वोटर को लुभाने के लिए ऐसी नीतियों का भी निर्माण करते हैं, जो वोटर को आकर्षित करे। वोटर को लुभाने की इस कवायद को कई बार राजनीतिक दल के सदस्य ही पसंद नहीं करते हैं। ऐसी स्थिति में जब वोटर लोक-लुभावन नीतियों को तरजीह दे रहा है, उस स्थिति में उन्हें ऐसी नीतियों को भी स्वीकार करना पड़ता है, जो कि बहुत लोक-लुभावन नहीं है। क्योंकि यह नीतियां राजनीतिक दलों के पैकेज का हिस्सा होती हैं।

इसी तरह की कवायद बैलेट जनमत में की जाती है। इसके तहत वोटर का समूह किसी भी प्रस्तावित कानून के लिए वोटिंग करा सकता है। ऐसा करने के लिए एक न्यूनतम संख्या वोटर्स की होनी जरूरी होती है। उसके बाद ही वह इस तरह की वोटिंग कराने के लिए याचिका दायर कर सकते हैं। अमेरिका में इस प्रक्रिया के तहत वोटर कर्ज लेने, नई सड़क या स्कूल बनाने के प्रस्ताव पर अपना मत प्रकट करते हैं। कई बार इस कवायद के लिए राजनीतिक दल या सरकार अलग-अलग नीतियों को एक साथ समाहित कर लेती है। ऐसा कर उनका लक्ष्य यह होता है कि नीतियों के पैकेज के जरिए वह उन नीतियों को भी पारित करा ले, जिस पर उन्हें बहुमत का समर्थन नहीं हासिल है। ऐसा करना इसलिए संभव हो जाता है क्योंकि बहुमत पैकेज के तहत शामिल दूसरी नीतियों के पक्ष में होता है। इसलिए वह पूरे पैकेज को समर्थन देने के लिए तैयार हो जाता है।

विधानमंडल में वोटों की खरीद फरोख्त

जब राजनीतिक दल सत्ता प्राप्त कर लेते हैं, तो ऐसा नहीं होता है कि वोट की सौदेबाजी (लॉगरोलिंग) खत्म हो जाती है। उसकी झलक कानून बनाने के लिए समर्थन जुटाने में दिखने लगती है। उदाहरण के तौर पर कई बार किसी प्रस्तावित कानून पर मंत्रिमंडल के सभी सदस्य सहमत नहीं होते हैं। ऐसे स्थिति में फिर वोट का सौदा किया जाता है। यहां इस आधार पर समझौता होता है कि अभी आप हमारे प्रस्ताव का समर्थन करें, कल हम इसी तरह का सहयोग आपके साथ करेंगे। मंत्रिमंडल में करीब-करीब सभी प्रस्ताव इसी अंतर्निहित वोट के सौदे से पारित किए जाते हैं। इसके लिए कई तरह की छूट और लुभावने प्रस्ताव भी दिए जाते हैं। जिससे कि प्रस्ताव को आसानी से पारित कराया जा सके। कई बार यह

प्रक्रिया बहुत बेतुकी भी हो जाती है। उदाहरण के तौर पर साल 2008 में संकट में फंसे अमेरिकी बैंक को राहत पैकेज देने का प्रस्ताव आया, तो शुरूआत में यह केवल कुछ पन्नों वाला प्रस्ताव था। लेकिन अमेरिकी कांग्रेस के सदस्य यह जानते थे कि यह प्रस्ताव काफी अहम है और उसका पारित होना जरूरी है, ऐसे में उन्होंने सरकार की मजबूरी को भांप लिया और प्रस्ताव को पारित कराने के लिए सदस्यों ने कई तरह की मांगे रख दी। ऐसे में वोट की इस सौदेबाजी के कारण अंत में यह विधेयक 451 पन्नों का बन गया। और इसमें कई ऐसे छूटों को शामिल किया गया जो कि हकीकत में वास्तविक प्रस्ताव में कहीं शामिल ही नहीं थे। लेकिन इस कवायद में कई सारे समूह अपने-अपने हितों को पूरा कराने के लिए शामिल हो गए। नए पैकेज में बैंकों को राहत देने के साथ-साथ मोटर स्पोर्ट्स कॉम्प्लेक्स बनाने और मछली पालन पर छूट, ऐसे लोग जो साइकिल से काम पर जाते हैं, उन्हें सब्सिडी, ऊन निर्माताओं को 14.8 करोड़ डॉलर की टैक्स राहत, रम इंडस्ट्री को 19.2 करोड़ डॉलर का उत्पाद शुल्क में छूट और बच्चों के लिए लकड़ी के तीर बनाने वाले निर्माताओं को 20 लाख डॉलर की टैक्स छूट दी गई। खास बात यह थी मछली पालन पर मिली कर छूट इसलिए दी गई थी क्योंकि 20 साल पहले एक्जॉन वाल्डेज ऑटल कंपनी से समुद्री इलाके में तेल फैल गया था, जिसका नुकसान मछली कारोबारियों को हुआ था।

इसके विपरीत यूनाइटेड किंगडम में बैंकों को राहत देने के लिए लाए गए पैकेज को संसद ने केवल तीन दिन में पारित करा लिया था। वहां सरकार के लिए ऐसा कराना इसलिए आसान था, क्योंकि यूनाइटेड किंगडम में व्हिप प्रणाली लागू है। इसके तहत राजनीतिक दलों के सदस्यों को अपने दल के फैसले को मानना अनिवार्य हो जाता है। साथ ही सरकार भी मजबूत संसदीय नियमों से बंधी हुई रहती है और उसे उसी आधार पर काम करना होता है। यूनाइटेड किंगडम में संसद सदस्य को व्हिप प्रणाली की वजह से पार्टी के साथ खड़ा होना मजबूरी बन जाता है, ऐसे में वह ज्यादा सौदेबाजी नहीं कर पाता है। हालांकि इसके बावजूद यूनाइटेड किंगडम में वोट की सौदेबाजी नहीं होती है, ऐसा कहना मुश्किल है।

वोटों की खरीद फरोख्त का प्रभाव

वैसे तो वोट की सौदेबाजी मोटे तौर पर नुकसानदेह लगती है। लेकिन कई बार

यह फायदेमंद और प्रभावी भी होते हैं। सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारकों ने इसी आधार पर उसकी व्याख्या की है। उनके अनुसार किसी मुद्दे पर लोगों की क्या सोच है? यह कही ज्यादा प्रभावकारी तरीके से सामने लाती है। जबकि एक व्यक्ति द्वारा लाए गए जनमत संग्रह से यह बात सामने नहीं आती है। इसी तरह अल्पमत समूह जो किसी मुद्दे को हर हाल में पारित कराना चाहता है, वह वोट के सौदे को तरजीह देता है। यही नहीं कई बार इसके लिए वह वोट के बदले कैश (वोट फॉर कैश) की सौदेबाजी से भी परहेज नहीं करता है। कई बार उसके इस कदम की प्रशंसा भी होती है।

इसको हम रोजमर्रा के उदाहरणों से समझ सकते हैं। मान लीजिए कि तीन छात्र जो एक साथ रहते हैं, एक टेलीविजन खरीदने के लिए वोटिंग कराना चाहते हैं क्योंकि उनमें से कोई भी अकेले टेलीविजन नहीं खरीद सकता है। ऐसे में वह वोटिंग के जरिए फैसला करने का तरीका अपनाते हैं। इन तीनों में से एक साथी टेलीविजन खरीदना चाहता है तो बाकी दोनों साथी खरीदने के बहुत ज्यादा पक्ष में नहीं हैं। ऐसे में अगर वोट किया जाता है, तो साफ है कि टेलीविजन खरीदने का प्रस्ताव खारिज हो जाएगा। लेकिन इस परिणाम से तीन साथियों में टेलीविजन खरीदने की इच्छा के स्तर का पता नहीं चलता है। लेकिन यदि ख़रीददारी की चाह रखने वाला साथी, अपने दूसरे साथी को कैश देकर या फिर यह कहकर कि इस बार तुम मेरा साथ दो, जब तुम्हें जरूरत पड़ेगी तो मैं भी तुम्हारा समर्थन करुंगा, समर्थन हासिल कर लेता है तो ऐसी परिस्थिति में फैसला बदल जाएगा और तीनों साथियों को टेलीविजन खरीदना पड़ेगा।

ऐसे में वोट की सौदेबाजी कई बार फ़ायदेमंद भी होती है। जैसे किसी क्षेत्र में अगर कोई नई सड़क बनानी है तो स्थानीय लोगों के फायदे को देखते हुए वह प्रोजेक्ट जरूरी हो जाता है। लेकिन जो लोग उस सड़क का शायद ही कभी इस्तेमाल करे, वह निर्माण के लिए लगने वाले टैक्स का विरोध करते हैं। इसकी वजह से सड़क निर्माण प्रोजेक्ट अटक जाता है। यह जानते हुए भी कि यह प्रोजेक्ट उपयोगी है, फिर भी उसे लोकतांत्रिक प्रणाली में वोट की सौदेबाजी के बिना मंजूरी नहीं मिल पाती है।

इस परिस्थिति को समझने के लिए गॉर्डन ट्यूलॉक ने नौ वोटर का उदाहरण दिया है। उनके अनुसार एक प्रोजेक्ट से नौ वोटर में से किसी एक व्यक्ति

को 15 पाउंड का फायदा होगा, लेकिन उस प्रोजेक्ट को पूरा करने के लिए सभी व्यक्ति को एक-एक पाउंड खर्च करना जरूरी है। ऐसी स्थिति में वोटर इस प्रोजेक्ट के विरोध में वोट डालेंगे। वोटर विरोध में इस बात को नजरअंदाज कर देंगे कि उन्हें नौ पाउंड के बदले 15 पाउंड का फायदा मिल रहा है।

लेकिन कई बार वोटों का सौदा नुकसानदेह भी होता है। मसलन अगर नौ वोटर द्वारा दिए एक-एक पाउंड से सात डॉलर का ही फायदा मिलता है तो यह हर तरह से नुकसानदेह साबित होता है। ऐसे में लॉगरोलिंग अपनाने सभी प्रोजेक्ट को मंजूरी मिल जाती है, भले ही उससे होने वाला फायदा कुछ भी हो।

वोटों के खरीद फरोख्त वाली प्रक्रिया की अन्य खामियां

व्यवहारिक स्तर पर देखा जाय तो वोटों की खरीद फरोख्त करने में कई सारी खामियां नजर आती हैं। क्योंकि बड़े लोकतंत्र में वोट का सौदा करना काफी खर्चीला होता है। इस तरह की व्यवस्था में राजनीतिक दृष्टिकोण को तो जायज ठहराया जा सकता है लेकिन उस पर होने वाले वित्तीय खर्च को जायज नहीं ठहराया जा सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में इस तरह के वोटों के सौदों को पोर्क बैरल राजनीति (जब किसी छोटे फायदे लिए बड़ा वित्तीय बोझ टैक्स देने वालों पर डाल दिया जाता है) कहा जाता है । हकीकत यह है कि जन प्रतिनिधि हमेशा अल्पमत समूह पर प्रोजेक्ट को पूरा करने का बोझ डालते हैं। एक तरफ तो वोट का सौदा (लॉगरोलिंग) अल्पमत समूह के लिए उन परिस्थितियों में फायदे का सौदा साबित होती है, जब ऐसा लगता है कि वह सामान्य वोटिंग प्रक्रिया के जरिए अपनी बात को नहीं रख सकते हैं। वहीं दूसरी तरफ वह अल्पमत समूह को यह मौका देती है कि वह बेहतर तरीके से संगठित होकर अपने प्रोजेक्ट की मांग कर सके, लेकिन उसके बदले में समूह पर एक बड़ा वित्तीय बोझ भी पड़ता है।

जब बहुत से अल्पमत समूह वोट के सौदे के जरिए अपनी मांग पूरा कराना चाहते हैं, तो जैसे साल 2008 में अमेरिका में राहत पैकेज देते वक्त हुआ, वैसी स्थितियां भी खड़ी हो जाती हैं। इन स्थितियों में विधेयक का आकार इतना बड़ा हो जाता है कि सांसद उसे ठीक से पढ़ने तक का वक्त नहीं दे पाते हैं। और उसे समझने में भी वक्त नहीं लगाते हैं। ऐसे में जब भी इस तरह के कदम उठाए जाते

हैं, तो इस वजह से नए प्रोजेक्ट की संख्या बढ़ती जाती है। इस वजह से सरकारी प्रोजेक्ट बहुत तेजी से बढ़ते जाते हैं, जिसका सीधा मतलब है कि उसके खर्च का विस्तार होता जाता है।

ऐसे में वोटों की खरीद फरोख्त का सबसे बड़ा फायदा यही है कि यह एक लोकतांत्रिक, सहभागी और सलाहकारी प्रक्रिया है। जो कि अल्पमत समूह को लोकतंत्र में अपनी बात को कहने का मौका देता है। लेकिन ज्यादातर बार यह अपारदर्शी, राजनीतिक हितों को साधने वाला और आम जनों पर खर्च का बोझ बढ़ाता है। यही नहीं इससे ज्यादा बुरी परिस्थिति में यह भ्रष्टाचार को भी बढ़ावा देता है। जैसे वोट पैसे के लिए बिक जाते हैं। कई बार यह जानना मुश्किल हो जाता है कि वह पतली सी लक्ष्मण रेखा कहां पर खींची जाए, जिससे भ्रष्टाचार तक मामला नहीं पहुंचे।

वोटों की खरीद फरोख्त पर नियंत्रण

वैसे तो वोटों की खरीद फरोख्त बहुत प्रचलित प्रक्रिया है। लेकिन इसे किसी एक मुद्दे पर जनमत संग्रह के जरिए रोका जा सकता है। ऐसी संसद जहां पर दो सदन होते हैं, वहां पर भी वोट के सौदे कराना काफी मुश्किल भरा काम होता है। क्योंकि सभी सदन का गठन अलग-अलग तरीकों से होता है। ऐसे में वोटों का सौदा होना काफी मुश्किल भरा होता है। यही नहीं इन परिस्थितियों में अगर वोट के सौदे किए भी जाए तो भी उसके परिणाम का आकलन मुश्किल होता है। इसके अलावा इन परिस्थितियों में राष्ट्रपति के पास वीटो का भी अधिकार होता है, ऐसे में वह वोट के सौदे के जरिए पारित होने वाले किसी भी विधेयक को रोक सकता है। इस वजह से अनिश्चितता और बढ़ जाती है।

हालांकि अमेरिकी संविधान में यह तीनों तत्व मौजूद हैं, इसके बावजूद अमेरिकी राजनीति में वोट के सौदे (लॉगरोलिंग) व्यापक रूप से होते हैं। खास तौर से यह हाउस ऑफ रिप्रजेंटेटिव में कही ज्यादा अपनी जड़े जमाए हुए है। जहां पर हर दो साल पर सदस्य चुनाव का सामना करते हैं और यह सदस्य छोटे शहरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐसे में इन शहरों में हमेशा चुनाव का दबाव बना रहता है। जिसकी वजह से प्रतिनिधि दोबारा चुनाव जीतने के लिए वोट के सौदों और गठबंधन बनाए रखने को लगातार तरजीह देते हैं। इसी तरह राष्ट्रपति चुनाव भी

हर चार साल पर होते हैं, ऐसे में वहां भी वोटों की खरीद फरोख्त काफी प्रभावशाली रहता है। इनकी तुलना में सीनेट में वोटों के सौदों का प्रभाव काफी कम रहता है। क्योंकि वहां पर सदस्यों का चुनाव छह साल के लिए होता है। इसलिए वहां पर चुनाव का दबाव काफी कम होता है।

शायद यह वोटों के सौदों को नियंत्रित करने का यह एकमात्र उपलब्ध तरीका है। हालांकि हमें यह भी समझना चाहिए कि वोटों के सौदों (लॉगरोलिंग) से होने वाला फायदा बहुत सीमित होता है।

7. राजनैतिक लाभः रेंट सीकिंग

सार्वजनिक चयन के दूसरे अहम सिद्धातों की तरह ही रेंट सीकिंग (सरकार से मिलने वाली आर्थिक सहायता, सब्सिडी आदि) की परिकल्पना सबसे पहले 1967 में गार्डन ट्यूलॉक ने दी थी। हालांकि कुछ वर्षों बाद इसे मुहावरे के रुप में खुद ऐनी क्रुएगर ने प्रचलित किया।

सामान्य तौर पर आम लोग रेंट का तात्पर्य किसी भूमि अथवा अन्य संपत्ति के ऐवज में प्राप्त होने वाले किराये से लगाते हैं जिसके लिए मालिक को ज्यादा मेहनत नहीं करनी पड़ती है। हालांकि अर्थशास्त्री रेंट सीकिंग की परिभाषा को कहीं ज्यादा तकनीकी रुप से परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार जब किसी कारोबारी या निवेशक को सामान्य प्रतिस्पर्धा से कहीं ज्यादा रिटर्न मिलता है, तो वह रेंट सीकिंग कहलाती है।

सामान्य भाषा में कहें तो, बाजार वाली परिस्थितियों में यदि किसी आपूर्तिकर्ता या कारोबारी को दूसरों से प्रतिस्पर्धा नहीं मिलती है और जिससे उसकी ज्यादा आय या कमाई होती है तो वह रेंट सीकिंग कहलाएगी। उदाहरण के तौर पर अगर किसी गांव में एक अकेला किराना कारोबारी है, तो उसे कोई प्रतिस्पर्धा नहीं मिलेगी। ऐसे में वह न केवल उत्पादों की कीमतें मनमाने तरीके से तय करता है बल्कि अपनी सेवाएं भी ग्राहकों को खराब तरीके से देता है। किराना कारोबारी के ज्यादा फायदे को देखते हुए दूसरे लोग भी गांव में कारोबार करने के लिए प्रेरित होते हैं। जो कि दुकान खोलने के लिए स्वतंत्र होते हैं। जब उस बाजार में दूसरे कारोबारी या दुकानदार आ जाते हैं, तो पहले वाले कारोबारी का बाजार पर से एकाधिकार खत्म हो जाता है। ऐसे में वह कीमतें कम करने और बेहतर सेवाओं देने पर मजबूर हो जाता है।

लेकिन राजनीति में परिस्थितियां बेहद अलग होती हैं। इस व्यवस्था में

प्रचुर फायदा वहीं मिलता है, जहां राजनैतिक सत्ता चाहती है। वह उस उस क्षेत्र में नए प्रतिस्पर्धियों के लिये बाजार में प्रवेश व प्रतिस्पर्धा को दुष्कर या असंभव बना देती है और इच्छित व्यक्ति अथवा संस्था को अनुचित लाभ प्रदान कराती है। रेंट सीकिंग (आर्थिक सहायता या सब्सिडी) का बेहतरीन उदाहरण न्यूयार्क में टैक्सियों के लिए लाए गए कानून के रुप में मिलता है। नए कानून के तहत शहर में अधिकतम टैक्सी चलने की संख्या 13 हजार तय कर दी गई थी। जो कि महामंदी के दौर में चलने वाली टैक्सियों की संख्या से भी आधी थी। इस फैसले का परिणाम यह हुआ कि टैक्सी बाजार में प्रतिस्पर्धा खत्म हो गई और टैक्सी ड्राइवर कहीं ज्यादा कमाई करने लगे। लेकिन इसके साथ ही टैक्सी का इस्तेमाल करने वालों की दिक्कतें बढ़ गई। लोगों का टैक्सी के लिए इंतजार लंबा हो गया। नए न्यूयार्क टैक्सी लाइसेंस ने टैक्सी ड्राइवरों की कमाई में 10 लाख डॉलर का अतिरिक्त फायदा पहुंचाया। ऐसे में रेंट सीकिंग से होने वाली कमाई को उसे मिलने वाले संरक्षण के रुप में देखना चाहिए।

सामान्य तौर पर सरकार शिक्षा या डाक सेवाओं से संबंधित एकाधिकार स्वयं के पास रखती है। इसी तरह जब राजा-महाराजाओं का शासन था, तो उस दौर में वह अपने दोस्तों और दरबारियों को सीधे तौर पर नमक, साबुन, मोमबत्ती, स्टार्च, कागज और मीठी शराब के बिजनेस का एकाधिकार देते थे। आज यह तरीके बदल गए हैं। क्योंकि चीजें कहीं ज्यादा अंतर्निहित हो गई हैं। लेकिन सरकार अकाउंटेंट, डेंटिस्ट (दंतरोग विशेषज्ञ) , हेयर ड्रेसर आदि प्रोफेशनल को बिजनेस करने के लिए लाइसेंस देती है। इसके तहत उन्हें आयात किए उत्पादों पर टैरिफ (शुल्क) का फायदा, जमीन के इस्तेमाल में छूट और दूसरे कोटे या आरक्षण दिए जाते हैं। इन सहूलियतों को देने का एकमात्र मकसद उन्हें कड़ी प्रतिस्पर्धा से बचाना और ज्यादा से ज्यादा लाभ दिलाना होता है। इससे उनके पसंदीदा लोगों को बाजार का एकाधिकार मिल जाता है।

रेंट सीकिंग का लोभ

सरकार से रेंट सीकिंग का फायदा लेने के लिए एक खास समूह लगातार कोशिश करता रहता है। वह चाहता है कि उसे बाजार में वैध रुप से एकाधिकार पूर्वक कारोबार करने का मौका मिल जाए। अगर वह ऐसा करने में सफल हो जाता है

तो उसे बड़ी मात्रा में धन का हिस्सा, कमाई के रुप में मिल जाता है, जो आम आदमी के हिस्से का होता है। एकाधिकार की वजह से न केवल उपभोक्ता और करदाता को वस्तुओं की ज्यादा कीमत चुकानी पड़ती है बल्कि उसे गुणवत्ता से भी समझौता करना पड़ता है। यानी उसे भारी खामियाजा उठाना पड़ता है।

टयूलॉक ने रेंट सीकिंग को लेकर एक और अहम बात को चिन्हित किया है। उनके अनुसार रेंट सीकिंग से होने वाला फायदा इतना ज्यादा होता है कि उसे पाने के लिए लोग धन-बल से लेकर हर तरीके का इस्तेमाल करते हैं। उदाहरण के तौर पर कार निर्माता कंपनियों को इसका फायदा अरबों रुपये के रुप में मिलता है। उन्हें राजनैतिक स्तर पर रेंट सीकिंग का फायदा किस तरह से मिल सकता है, उसे ऐसे समझा जा सकता है। मान लीजिए कंपनियां सांसदों या नीति निर्मताओं को आयात होने वाली कारों पर शुल्क लगाने के लिए राजी कर लेती है, तो उन्हें बड़ा फायदा मिल सकता है। इसे देखते हुए लॉबिंग के लिए वह लाखों रुपए खर्च करने से भी वह परहेज नहीं करती हैं।

लेकिन टयूलॉक एक और बात चिन्हित करते हैं कि लॉबिंग के लिए इतने बड़े पैमाने पर खर्च होने वाली राशि, अनुत्पादक होती है। इसलिए अर्थव्यवस्था को भी बड़े पैमाने पर नुकसान पहुंचता है। क्योंकि लॉबिंग करने वाली कंपनियों को सरकार का समर्थन मिलने से न केवल समय और पैसा बर्बाद होता है बल्कि कई सारे प्रतिभावान लोगों का कौशल और उनके अंदर की आंत्रप्रेन्योरशिप भी व्यर्थ हो जाती है। इसके अलावा रेंट सीकिंग गतिविधि से समुदाय को भी कोई फायदा नहीं मिलता है। वह सिर्फ यह तय करती है कि किस क्षेत्र का एकाधिकार किस हित समूह को प्रदान किया जाए।

टयूलॉक रेंट सीकिंग से होने वाले एक और नुकसान को चिन्हित करते हैं। उनके अनुसार रेंट सीकिंग समूह न केवल समुदाय को नकुसान पहुंचाते हैं बल्कि कानून को अपने पक्ष में करवाने की कोशिश में बहुत सारे संसाधनों को भी बर्बाद करते हैं। इसकी वजह से कल्याणकारी अर्थशास्त्र का विचार रखने वाले अर्थशास्त्री भी हतोत्साहित होते हैं। उनका मानना है कि सामूहिक सोच न केवल बाजार की असफलता को दुरुस्त कर सकती है बल्कि कल्याणकारी सोच को भी आगे बढ़ाती है। लेकिन रेंट सीकिंग का फायदा पाने की कोशिश में लगे लोग शायद ही कभी सोचते हैं कि वास्तविक दुनिया सामूहिक निर्णय से चलती है। वह

रेंट सीकिंग के जरिए लिए गए फैसले पर यह सोचते हैं कि नीतिगत फैसले लेने वाले लोगों ने आम लोगों के हितों को देखते हुए कदम उठाया है। ट्यूलॉक का नजरिया एकदम साफ है कि रेंट सीकिंग के जरिए लिया गया फैसला आम जन की सोच से एकदम अलग होता है। वह न केवल सामूहिक सोच की अनदेखी करता है बल्कि बाजार में प्रतिस्पर्धा को भी कम करता है। क्योंकि इसके जरिए न केवल एक निश्चित समूह को फायदा मिलता है, बल्कि आम जन को भी बड़े पैमाने पर नुकसान होता है।

लागत और उसका बिगड़ना

आर्थिक सहायता या सब्सिडी (रेंट सीकिंग) किस तरह लोगों के जेब पर दबाव डालती है, उसे इस उदाहरण से समझा जा सकता है। मान लीजिए कोई उच्च तकनीकी का इस्तेमाल करने वाली इंडस्ट्री रिसर्च और विकास के लिए कर में छूट चाहती है, इसके लिए वह सरकार के सामने इस तरह की तस्वीर प्रस्तुत करेगी, कि अगर उसे कर में छूट मिल जाता है तो देश में अत्याधुनिक तकनीकी आएगी और उससे उच्च गुणवत्ता वाले उत्पाद बनने लगेंगे, जिसे दुनिया के दूसरे देश खरीदना चाहेंगे।

हो सकता है कि ऐसा करने से कुछ फायदा हो, लेकिन साथ ही इंडस्ट्री से जुड़ी दूसरी कंपनियों को भी शोध के लिए ऐसे उत्पाद सस्ते मिलने लगेंगे, जो वे पहले ही कर चुकी हैं। कर छूट का फैसला टैक्स प्रणाली को भी नुकसान पहुंचाता है। साथ ही कंपनियां ज्यादा टैक्स छूट पाने के लिए रिसर्च पर ही जोर देने लगती है, ऐसे में दूसरे काम प्रभावित होते हैं। अगर वह रिसर्च पर ज्यादा खर्च न कर दूसरे संसाधनों इस्तेमाल करने पर जोर देती तो शायद उन्हें कहीं ज्यादा फायदा मिलता। यही नहीं कम टैक्स का लाभ उठाने के लिए तमाम कंपनियां अपने उन कार्यों को भी 'शोध और विकास' के वर्ग में डाल देती हैं जो कि वास्तव में कुछ और होती है।

जाहिर है, इस फैसले से सरकार के राजस्व में कमी भी आएगी और वह इसकी प्रतिपूर्ती और अपने जरूरी खर्चों को पूरा करने के लिए दूसरे संसाधनों का इस्तेमाल करेगी। इस स्थिति में दूसरे लोगों पर टैक्स का बोझ बढ़ेगा। इसका नुकसान यह होता है कि कुछ लोगों को ज्यादा टैक्स देना पड़ेगा वहीं बड़ी संख्या

में लोग टैक्स नहीं देने का वैध या अवैध तरीका अपनाने के लिए बाध्य हो जाते हैं। यही नहीं ऊंचे टैक्स दरों वाली प्रणाली में लोग सरकार से कई सारी विशेष छूट की भी मांग करने लगते हैं। अगर वह अपनी मांग पूरी करने में सफल हो जाते हैं तो इससे आर्थिक गतिविधियों पर प्रतिकूल असर पड़ता है। आम आदमी को मिलने वाले संसाधनों में कमी आती है और अर्थव्यवस्था में टैक्स चोरी करने वालों की संख्या बढ़ती है। ऐसे में आर्थिक गतिविधियां प्रभावित होती हैं और स्थिति फिर अपने पुराने स्तर पर पहुंच जाती है।

इसी प्रकार की समस्या तब भी उत्पन्न होती है जब लोग सब्सिडी प्राप्त करने के लिये कैंपेन चलाते हैं और सरकार से अपनी मांग पूरी कराने में सफल भी रहते है। जैसे कि यदि सरकार जैव ईंधन को बढ़ावा देने के नाम पर सब्सिडी की मांग मान कर अनुदान जारी कर देती है तो जैव ईंधन के उत्पादन के क्षेत्र में आर्थिक गतिविधियां बढ़ जाएंगी और जैव ईंधन का उत्पादन बढ़ने लगेगा। इसके साथ ही इसके लिए जरूरी फसलों की मांग भी बढ़ेगी। इस स्थिति में उन फसलों की कीमतें बढ़ेंगी और लोग खाद्यान्नों की जगह जैव ईंधन वाली फसलें उगाएंगे। परिणामस्वरूप खाद्य वस्तुओं की भी कीमतें बढ़ेगी। जिसका असर आम आदमी की रोजमर्रा की जरूरतों पर होगा और गरीब व्यक्ति के जीवन पर उसका सबसे ज्यादा प्रतिकूल असर पड़ेगा। एक बार फिर इन फैसलों की कीमत आम आदमी को चुकानी पड़ेगी और उसका फायदा जो अपारदर्शी है, वह अपने हित साधने वाले समूहों तक ही सीमित रह जाएगा।

इसी तरह कई समूह राज्य से कल्याणकारी योजनाओं के नाम पर फायदा लेते हैं। जैसे निम्न आयवर्ग को नकद हस्तांतरण सुविधा दी जाती है। इस सुविधा को पाने के लिए कई बार समूह, निम्नआयवर्ग में शामिल होने के लिये अर्हता यानी न्यूनतम आय की सीमा को बढ़ाने का दबाव सरकार पर अभियान के जरिए बनाते हैं। ऐसा करने से पुरानी न्यूनतम सीमा से थोड़ी ज्यादा आय वाले भी नकद हस्तांतरण के पात्र हो जाते हैं। इसके लिए वह किसी भी हद तक जाने के लिए भी तैयार रहते हैं।

लागत का मूल्यांकन

नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री मिल्टन फ्रीडमैन के अनुसार फैक्ट्री का

निर्माण करने से सार्वजनिक पूंजी का निर्माण होता है। लेकिन न्यूयार्क टैक्सी जैसे प्राचीन तमगे को खरीदने से पूंजी निर्माण नहीं होता है। फ्रीडमैन के अनुसार किसी भी देश में पब्लिक सेक्टर की जितनी ज्यादा भागीदारी होगी या फिर जहां पर कर और नियमन जटिल होंगे, वहां पर आर्थिक फायदा या सब्सिडी (रेंट सीकिंग) के ज्यादा मौके भी बनेंगे। ऐसे में रेंट सीकिंग से होने वाला नुकसान भी बहुत ज्यादा होगा।

ऐसी व्यवस्था में कंपनियां, व्यक्ति और समूह ज्यादा आर्थिक फायदा या सब्सिडी प्राप्त करने (रेंट सीकिंग) का प्रयास करते हैं, साथ ही उसके लिए जरूरी निवेश भी करते हैं ताकि अधिक से अधिक लाभ मिले। लेकिन इस कवायद में अर्थव्यवस्था के दूसरे संसाधनों का दोहन होता है। जिसमें कई बार कहीं ज्यादा शिक्षित और पेशेवर लोग भी शामिल हो जाते हैं। कुल मिलाकर रेंट सीकिंग की सफलता से बड़े स्तर पर आर्थिक और दूसरी गतिविधियों को चोट पहुंचती है। अमेरिका में साल 2000 में किए गए अध्ययन का आकलन था कि रेंट सीकिंग (आर्थिक फायदा या सब्सिडी) हासिल करने के लिए समूह करोड़ों रुपये खर्च कर देते हैं। रेंट सीकिंग को लेकर एक बात और समझनी जरूरी है कि ऐसा नहीं है कि हर बार मिलने वाली आर्थिक सहायता या सब्सिडी कंपनियों या लॉबिंग करने वाले समूहों के लिए फायदेमंद साबित होती है। यह एक तरह से जुआ है। कई बार ऐसा होता है कि रेंट सीकिंग के लिए लॉबिंग समूह जितनी राशि खर्च कर देते हैं, उतना रिटर्न उन्हें आर्थिक फायदा या सब्सिडी मिलने से नहीं होता है।

यह भी समझना जरूरी है कि रेंट सीकिंग से पड़ने वाले आर्थिक बोझ की भरपाई सरकारें आम आदमी से ही करती है। ऐसे में अगर लोगों को लगता है कि उनकी मेहनत से की गई कमाई और बचत ज्यादा टैक्स देने या ऊंची कीमतें चुकाने में चली जा रही है तो वह कम मेहनत करते हैं। और अपनी बचत को ऐसी जगह निवेश करने से परहेज करने लगते हैं, जहां पर निवेश से पूंजी का निर्माण होता है। ऐसे में पूंजी निर्माण करने वाली कंपनियों के पास नकदी का संकट बढ़ जाता है। इसका नुकसान एक बार फिर आम जनता को ही उठाना पड़ता है।

राजनैतिक लागत

आर्थिक फायदा या सब्सिडी (रेंट सीकिंग) देने की कवायद राजनीति को भी भ्रष्ट

बनाती है। रेंट सीकिंग के जरिए ज्यादा से ज्यादा फायदा मिलने की संभावना वोटों के सौदों (लॉग रोलिंग) को बढ़ाती है। ऐसा कर रेंट सीकिंग की लॉबिंग करने वाले लोग अपने समर्थन में वोट खरीद लेते हैं।

आर्थिक फायदा या सब्सिडी लेने वालों का सबसे प्रमुख जोर ज्यादा से ज्यादा छूट पाने पर होता है। इसके लिए वह अपना समय और ऊर्जा खर्च करते हैं। रेंट सीकिंग से मिलने वाले बड़े फायदे की वजह से ही आज लॉबिंग एक बहुत बड़ी इंडस्ट्री के रूप में स्थापित हो गई है। और इसके प्रभाव के कारण ही राजनेता बड़े पैमाने पर छूट, नियमन और एकाधिकार स्थापित करने वाले कानून बनाते हैं। यह इस बात की भी व्याख्या करता है कि लंबे समय तक कर छूट या सब्सिडी देने के बावजूद क्यों, उसे खत्म नहीं किया जाता है। ऐसे में आर्थिक सुधारों की बेहद जरूरत दिखाई देती है।

इसी तरह, सरकार जितनी बड़ी होगी, रेंट सीकिंग (आर्थिक फायदा या सब्सिडी) के उतने अधिक मौके बनेंगे, सत्ताधारी दलों के लिए लॉबिंग करने वाले से फायदा लेना कहीं ज्यादा आसान हो जाता है। राजनेता इस स्थिति में न केवल आर्थिक फायदा या सब्सिडी देने के लिए सक्षम हो जाते हैं बल्कि लॉबिंग समूह को कई बार उसे नहीं देने की धमकी भी देते हैं। राजनेताओं को सत्ता से मिली यह शक्ति भ्रष्टाचार को भी बढ़ावा देती है। ऐसे में राजनेता और नौकरशाह किसी खास समूह को आर्थिक फायदा या सब्सिडी देने के लिए घूस या अपने दूसरे निजी हित पूरा कराते हैं। और जो समूह उनकी बात नही मानता है तो वह उसके काम में नियमों के जरिए अड़ंगा लगा देते हैं। रेंट सीकिंग पाने वाले लोग और उसे देने में मदद करने वाले राजनेता सबसे ज्यादा फायदा उठाते हैं, जबकि बहुमत समूह न केवल इसकी वजह से आर्थिक नुकसान उठाता है बल्कि शक्तिहीन भी हो जाता है। ऐसे में लोकतांत्रिक प्रणाली में रेंट सीकिंग एक बीमारी के रुप में जगह बना लेती है, लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि सब कुछ दिखाई देने के बाद भी क्यों इस हकीकत को कोई स्वीकार नहीं करता है

8. राजनीतिज्ञों को आर्थिक लाभ

सबसे बड़ा सवाल यही है कि हमें कानून निर्माताओं, सांसदों की क्यों जरूरत है? जबकि यह ऐसे लोग हैं जिन्हें हम सबसे ज्यादा नफरत भी करते हैं? इसका सीधा सा जवाब है- व्यवहारिकता। जिस तरह से विकसित देशों में दिन प्रतिदिन लोगों की जरूरतें और इच्छाएं बढ़ती जा रही है, ऐसे में सभी से उम्मीद करना कि वह हर मुद्दे पर आकर वोट करेगा, यह संभव नही है। इसके अलावा आम आदमी के पास इतना समय और रुचि भी नही है कि वह हर मुद्दे पर गहन अध्ययन कर अपनी राय बनाए। इन परिस्थितियों को देखते हुए हम उन मुद्दों और कार्यों के लिए एक छोटे समूह का गठन कर लेते हैं। जो उस पर फैसले लेता है। यह छोटा समूह ही जन प्रतिनिधि, विधायक और सांसद कहलाते हैं। हम उनकी समझ और फैसलों पर भरोसा करते हैं। और यह मानकर चलते हैं कि यह जन प्रतिनिधि, विधायक या सांसद अपने विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस व्यवस्था से कोई भी फैसला कम समय, कम खर्च और कम प्रयास के जरिए लिया जा सकता है।

जन प्रतिनिधि और हम

लेकिन क्या जन प्रतिनिधि, विधायक या सांसद हमारे विचारों का सही तरीके से प्रतिनिधित्व करते हैं? हो सकता है कि अकादमिशियन, अर्थशास्त्री ऐसा करने में सक्षम हो लेकिन ज्यादातर राजनीतिज्ञ अनुभवहीन होते हैं, ऐसे में वह साधारण व्यक्ति जैसा ही व्यवहार करते हैं। वास्तव में जन इच्छा सिद्धांत के विचारकों का कहना है, जन प्रतिनिधि बाकी लोगों जैसे ही होते हैं। ऐसे में फैसलों पर उनकी सोच और उनके हित प्रभाव डालती है। जन प्रतिनिधियों पर भी जन इच्छा सिद्धांत उसी तरह लागू होते हैं, जैसे कि चुनाव पर लागू होते हैं।

सार्वजनिक चयन का सिद्धांत जितना मतदाताओं पर लागू होता है उतना

ही जनप्रतिनिधियों के उपर भी लागू होता है। बहुदलीय राजनीतिक व्यवस्था में गठबंधन के लिए दल एक दूसरे से मोल-भाव कर समझौता करते हैं। लॉबिंग समूह सीधे जन प्रतिनिधियों, विधायकों और सांसदों पर दबाव डालते हैं, कई बार इसके लिए वित्तीय सहयोग भी करते हैं। ऐसे में वोट का सौदा (लॉगरोलिंग) सभी विधायिकाओं में अहम भूमिका निभाता है।

ऐसे में हम यह कतई उम्मीद नहीं कर सकते हैं कि जन प्रतिनिधियों के हित और वोटर के हित हमेशा एक जैसे नहीं होंगे। हकीकत में ऐसे लोग जो किसी भी तरह सत्ता हासिल करना चाहते हैं, वह अपने फायदे के लिए या अपने मित्रों के फायदे के लिए आम जनता के हितों की कभी परवाह नहीं करते हैं। यह भी सच है कि ऐसे राजनीतिज्ञों को जनता चुनाव के जरिए सबक सिखा सकती है। लेकिन जनता का यह नियंत्रण बहुत कमजोर होता है। क्योंकि चुनाव हर समय नहीं होते हैं, वह एक लंबे अंतराल पर होते हैं। वोटर किसी भी राजनीतिक दल या उम्मीदवार को विभिन्न मुद्दों पर उसकी नीतियों के आधार पर वोट देते हैं। एक और अहम बात समझना चाहिए कि जिन लोगों के पास चुनाव कराने का अधिकार होता है, वे अपनी सुविधानुसार चुनाव की तारीख और दूसरी संबंधित चीजें तय करते हैं। ऐसे शक्तिशाली लोगों का चुनाव के परिणाम पर भी प्रभाव दिखता है। सर्वेक्षण में वोटर की सोच पर कई बातें निकलकर सामने आई हैं। मसलन वोटर यह मानता है कि चुनाव में उसके द्वारा दिए गए एक वोट का बहुत कम महत्व है। इसके अलावा वोटर सरकार की गतिविधियों को अधिकतर नजरअंदाज कर देता है। इस कारण ज्यादातर समय चुनाव में वोटिंग प्रतिशत बहुत कम होती है। इसी वजह से जन इच्छा सिद्धांत के विचारक खास तौर से वर्जीनिया स्कूल से संबंध रखने वाले विचारक, इस विषय पर हमेशा विचार करते रहते हैं कि किस प्रकार सरकार पर संवैधानिक और ढांचागत सुधार कर अंकुश लगाया जा सकता है।

राजनेताओं की राजनैतिक कमाई

सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारक ब्लैक और डाउन्स ने वोट के उद्देश्य पर अहम बाते सामने रखी है। उनके अनुसार वोट के जरिए राजनेताओं और राजनीतिक दलों का उद्देश्य अहम पद प्राप्त करना और प्रमुख नीतियों पर अपनी

विचारधारा को लागू करना होता है। कुछ मसलों पर विपक्ष में बैठे राजनेता भी नीतियों पर असर डालते हैं, लेकिन प्रभावकारी असर डालने के लिए उन्हें सत्ता में होना जरूरी होता है। और सत्ता हासिल करने के लिए उन्हें चुनाव जीतना जरूरी होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो उन्हें बहुमत प्राप्त करना होता है। हो सकता है कि वह सत्ता के जरिए लोगों की भलाई करना चाहते हो, उनका भ्रष्ट होने का कोई उद्देश्य नहीं हो लेकिन इसके बावजूद वह जीत के लिए जरूरी वोट पाने पर ही सबसे ज्यादा जोर देते हैं।

वोट हासिल करने के लिए राजनेता क्या करते हैं, इस पर शिकागो स्कूल ने विस्तार से व्याख्या की है। उसके अनुसार राजनेता वोट के लिए एक दलाल (ब्रोकर) की तरह भूमिका निभाते हैं। उदाहरण के लिए लॉबिंग समूह समर्थन के बदले में राजनेताओं से अपने हित वाले कानून की मांग करते हैं। और इसका खामियाजा अंत में कर देने वाले नागरिकों और उपभोक्ताओं को उठाना पड़ता है। राजनेता लॉबिंग समूह की बात मानने के लिए उनसे कमाई (ब्रोकरेज फीस) के रूप में वोट हासिल करते हैं। यहीं नहीं अगर एक बार वह चुनाव में जीत गए तो कई अन्य प्रकार की राजनैतिक कमाई का भी रास्ता खुल जाता है। मसलन कैंपेन में सहयोग के नाम पर, सामाजिक रूतबा और ऑफिस के भत्ते, जनता और जनता के सेवक के बीच का फर्क, लोकप्रिय मुद्दों का समर्थन कर जनता का ध्यानाकर्षण और खर्च करने का अधिकार व अपने स्वयं के जिले में रोजगार आदि।

जाहिर है इन कामों में पैसों का प्रभाव रहता है। इस वजह से राजनीति एक शानदार करियर के रुप में लोगों को आकर्षित करती है। कई बार ऐसा भी होता है कि राजनेताओं का यह दांव उन पर उलटा पड़ जाता है। लेकिन अहम बात यह है कि क्या नीतियां बनाने के लिए भ्रष्टाचार का सहारा लेना वोट के सौदे या लॉगरोलिंग से अलग है या उससे भी बुरा है।

प्रयोजनयुक्त वोटिंग का नुकसान

लोगों को यह लगता है कि राजनेताओं का वोट हासिल करने का उद्देश्य बिजनेसमैन के लाभ कमाने के उद्देश्य से अलग होता है। बिजनेसमैन जहां आम लोगों से वस्तुओं और सेवाएं के बदले पैसे कमाता है, वहीं राजनेता लोगों से वोट

हासिल करता है। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए बाजार में ख़रीददारी का फैसला आम लोगों की स्वेच्छा पर निर्भर है, जबकि राजनैतिक इच्छा में कही न कही दबाव या जबरदस्ती का गुण नजर आता है। इसी वजह से शायद राजनैतिक दल या राजनेता जो वोट हासिल करते हैं, वह वोटर की राय और भावना को सही रूप में प्रदर्शित नहीं करता है।

उदाहरण के तौर पर, राजनेताओं को दी जाने वाली 'फीस' की मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि 'ग्राहकों' को उसके फैसलें और सत्ता में उसका बना रहना कितना अधिक टिकाऊ दिखता है। लेकिन इन परिस्थितियों में राजनेताओं को सबसे ज्यादा पैसे मिलने की संभावना उस छोटे हित साधक समूह से होती है, जिसके अपने हित ज्यादा महत्वपूर्ण होते हैं। कम जागरुक और असंगठित आम जन राजनेताओं को तुलनात्क रूप से ज्यादा प्रभावित नहीं कर पाते हैं। इसीलिए राजनेता संगठित समूह या ज्यादा प्रभावशाली समूह की बातों को ज्यादा तवज्जो देते हैं। ऐसी स्थिति में वह आम आदमी के सरोकारों की परवाह कम करते हैं, साथ ही कम जागरूक आम आदमी भी राजनेताओं की बातों को स्वीकार कर लेता है।

मकसद आधारित वोटिंग दूसरी समस्याएं भी खड़ी करती है। उदाहरण के तौर पर सत्ता में बैठे राजनेता के पास अपने चुनाव क्षेत्र या जिले में सरकार की योजनाओं का खर्च करने की शक्ति होती है। ऐसे में वह यह जानते हुए कि इस कदम से पूरे देश पर प्रतिकूल असर पड़ेगा लेकिन फिर भी वह ज्यादा से ज्यादा धनराशि अपने क्षेत्र पर खर्च करता है। इसी तरह वोट के सौदे (लॉगरोलिंग) के तहत अपने सहयोगी के जिले में भी गैर जरूरी प्रोजेक्ट्स को समर्थन प्रदान कर और अधिक नुकसान कराया जाता है। इसी तरह कोई ऐसा विधेयक जो कई समूहों को वोट हासिल करने के लिए तैयार किया गया है, वह भी अपने सर्वव्यापी स्वभाव के कारण बेकार साबित होता है।

मकसद के साथ हुई वोटिंग में एक और खामी दिखती है। क्योंकि इसके लिए चुनाव से पहले भ्रष्टाचार का सहारा लिया जाता है। इसके तहत राजनेता वोट हासिल करने के लिए उन प्रोजेक्ट का समर्थन करते हैं, जो एक बड़े वोटर समूह की पसंद है। समर्थन करते वक्त वह यह नहीं सोचते कि प्रोजेक्ट के लिए पैसा कहां से आएगा और वह कितना फायदेमंद होगा? अगर वह चुनाव जीत

जाते हैं तो किए गए वादे को पूरा करने के लिए जो प्रोजेक्ट शुरु किये जाते हैं उनको पूरा करने के लिए भी जनता पर टैक्स का बोझ डाला जाता है। इसीलिए चुनाव के समय राजनीतिक दल या राजनेता बीच का रास्ता अपनाते हैं, वह मध्यमार्गी (मीडियन) में फंसे वोटर को लुभाने की कोशिश में लगे रहते हैं क्योंकि ऐसे वोटर की संख्या ज्यादा होती है। उन्हें लगता है कि अगर इन वोटर को प्रभावित कर लिया गया तो उनकी जीत काफी हद तक पक्की हो जाएगी। ऐसी स्थिति में राजनीतिक दलों द्वारा आम आदमी के वास्तविक मुद्दों की अनदेखी कर दी जाती है। सरकारी पैसे को किसी खास समूह पर खर्च करना कहीं ज्यादा आसान होता है। इसी खासियत को देखते हुए वोटर पर राजनेता दांव लगाते हैं। अगर सरकार बड़ी और मजबूत होती है तो ऐसे समूह पर सरकारी पैसे खर्च करना कहीं ज्यादा आसान हो जाता है। क्योंकि उसके पास ज्यादा शक्ति और पैसा होता है। लेकिन इस कवायद में आम आदमी के मुद्दे पीछे छूट जाते हैं। यही नहीं राज्य जितना शक्तिशाली होता है, भ्रष्टाचार की आशंका भी उतनी बढ़ जाती है।

राजनेताओं पर अंकुश

मोटे तौर पर यह माना जाता है कि जनता चुनाव के जरिए राजनेताओं पर अंकुश लगा सकती है। भले ही यह अंकुश काफी कमजोर हो। इसके अलावा मीडिया, राजनेताओं और नौकरशाहों द्वारा किए जाने वाले भ्रष्टाचार को उजागर कर उन पर अंकुश लगा सकता है। साथ ही चुनाव में हार जाने का डर भी राजनेताओं को उन्मुक्त होकर सत्ता के दुरुपयोग से बचाता है। इसी तरह सत्ता में बैठे राजनीतिक दलों को यह भी डर सताता है कि अगर विपक्ष को सत्ता मिलेगी तो वह भी वहीं हथियार अपनाएगा, जो वह खुद विपक्ष पर आजमा रहा है। यह डर भी उसे निरंकुश नहीं होने देता है। हालांकि बहुत सारे सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारक खास तौर से वर्जीनिया स्कूल को मानने वालों का मानना है कि राजनेताओं को अंकुश में करने का सबसे अच्छा तरीका संवैधानिक कानून हैं। उदाहरण के तौर पर अगर सत्ता में बैठे लोगों के लिए ऐसा कानून बना दिया जाए, कि उसे लंबे समय तक सत्ता में रहने की उम्मीद नही है। तो ऐसे लोगों में सत्ता का दुरूपयोग करने की प्रवृत्ति ज्यादा बढ़ जाती है। वहीं किसी खास पद पर बैठा

व्यक्ति कितनी बार चुनाव लड़ सकता है, साथ ही एक बार जीत मिलने के बाद कार्यकाल की अवधि क्या होगी, यह तय होने से सत्ता का दुरुपयोग और राजनीतिक दलों का वरदहस्त कम हो सकता है। अमेरिका में जिस तरह से सत्ता का बंटवारा किया गया है, उससे वहां वोट के सौदे (लॉग रोलिंग) की संभावना और अपना हित साधने वाले समूहों की क्षमता कमजोर हो जाती है। ऐसी स्थिति में यह लोग सरकार के दूसरे हिस्सों को प्रभावित करने की कोशिश करते हैं। लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका में शक्तियों के बंटवारे के कारण संसदीय समितियां जहां एक तरफ वोट के सौदे (लॉगरोलिंग) को रोक सकती हैं, वहीं उनके पास इसके लिए रास्ता साफ करने का भी मौका होता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति को ढेर सारी शक्तियां मिली हुई हैं। मसलन वह कांग्रेस के प्रस्ताव पर वीटो कर सकता है। लेकिन यह एक बार फिर लॉगरोलिंग का मौका देता है क्योंकि राष्ट्रपति के वीटो के बाद जब प्रस्ताव दोबारा कांग्रेस में जाता है तो उसे पारित कराने के लिए ज्यादा बहुमत की जरूरत पड़ती है। ऐसी स्थिति में छोटे राजनीतिक दल सौदेबाजी के जरिए अपनी क्षेत्रीय मांग को पूरा कराते हैं। इस वजह से लॉबिंग न केवल कम प्रभावशाली रह जाती है बल्कि उस पर जोखिम भी बढ़ जाता है। यही नहीं इस स्थिति में राष्ट्रपति को राष्ट्रहित के नाम पर छोटे राजनीतिक दलों की क्षेत्रीय मांग को भी स्वीकार करना पड़ता है। ऐसे में आम उपभोक्ता और कर देने वालों की एक बार फिर अनदेखी हो जाती है। यही नहीं अगर राष्ट्रपति राजनीतिक रुप से सशक्त है तो वह अपनी कुशलता और शक्ति से वोटों के सौदे (लॉगरोलिंग) खुद ही संभाल लेता है।

इसी तरह न्यायपालिका राजनेताओं को कानून से बाहर जाकर कदम उठाने से रोकती है। या यू कहें कि उन्हें कानून का पालन करना पड़ता है। यहां तक कि अगर आजीवन पद पर बने रहने के कानून पारित होता है तो गैर राजनीतिक रूप से नियुक्त न्यायधीशों के पास उन कानूनों को रोकने की ताकत होती है। इसकी वजह से न्यायापालिका को राजनेताओं की तुलना में कहीं ज्यादा स्वतंत्रता मिलती है। इस ताकत की वजह से न्यायाधीश सांसदों पर अंकुश लगा कर रखते हैं। लेकिन जिस व्यवस्था में न्यायाधीशों की नियुक्ति राजनीति से प्रभावित होती है, वैसी स्थिति में न्यायाधीश राजनीतिक हो जाते हैं या फिर वह स्वतंत्र होने का दिखावा करते हैं। या फिर ऐसे न्यायाधीश की नियुक्ति कर दी

जाती है जो सत्ता और विपक्ष दोनों की पसंद होता है। ऐसी स्थिति में योग्य न्यायधीशों की अनदेखी कर दी जाती है। लेकिन किसी भी स्थिति में न्यायधीशों के पास भी एक हद तक ही अधिकार होता है कि वह संसद या विधायिका द्वारा बनाए गए कानून को निरस्त कर सकें। उनका मुख्य काम संविधान की मूल भावना को बनाए रखना होता है। जिससे कानून का राज बना रहे। ऐसा करने के लिए उन्हें ध्यान रखना पड़ता है कि वह ऐसा कोई फैसला नहीं ले, जिससे सत्ता में बैठे लोगों के हितों को फायदा पहुंचे और जनता को यह नहीं लगना चाहिए कि उसके अधिकारों की अनदेखी हो रही है।

9. नौकरशाहों का प्रोत्साहन

राजनीतिक व्यवस्था में नौकरशाहों की भी एक अहम भूमिका है। ये नौकरशाह, सरकार के मंत्रालयों, सार्वजनिक विभागों और स्थानीय स्तर पर काम कर रही सरकारों के विभागों में काम करते हैं। इनका प्रमुख काम सांसदों या जनप्रतिनिधियों द्वारा लिए गए फैसलों और प्रमुख नीतियों को जमीन पर लागू करना है, जिससे उसका लाभ आम नागरिक तक पहुंच जाए। लेकिन एक बार फिर वही सवाल उठता है कि हम नौकरशाहों पर किस हद तक भरोसा कर सकते हैं। क्योंकि यह जानना आसान नहीं है कि जिन फैसलों को लागू करने की जिम्मेदारी नौकरशाहों पर है, उसे वह कितनी ईमानदारी से अमल में ला रहे हैं और उसे लागू करने में उनका कोई हित नहीं है? सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारकों में ज्यादातर का मानना था कि बहुत कम नौकरशाह हैं जो अपना काम ईमानदारी से कर रहे हैं। गार्डन ट्यूलॉक जो खुद एक नौकरशाह थे, उन्होंने नौकरशाही के अपने अनुभवों के बारे में लिखा है। इससे जेम्स बुकानन काफी प्रभावित हुए और उन्होंने सिद्धांत दिया कि नौकरशाह बड़े आकार वाली सरकार और उसके काम-काज के विस्तार को खासी तरजीह देते है। उनके अनुसार ऐसा करने के पीछे नौकरशाहों के गैर जरूरी हित छिपे होते हैं। वर्जीनिया स्कूल के लेखक विलियम ए. निशकानेन ने नौकरशाहों के इस हित के पीछे की वजह को बजट के आकार को बताया है। क्योंकि बजट में आवंटन जितना ज्यादा होगा, उनके निजी हित उतने ही ज्यादा पूरे होंगे।

यह विचार पारंपरिक कल्याणकारी अर्थशास्त्रियों के उस विचार से एकदम विपरीत था, जिसमें वह मानते थे कि नौकरशाह जनहित के लिए नौकरी ज्वाइन करते हैं। जिसके तहत वह निष्पक्ष होकर कानून की पालना का काम कराते हैं और उसके बदले में उन्हें वेतन मिलता है। लेकिन सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारक नौकरशाही के काम-काज का तार्किक विश्लेषण

करते हुए यह पाते हैं कि ये लोग संस्थागत रुप से मिली शक्तियों का फायदा उठाते हुए अपने निजी हित पूरे करते हैं। हो सकता है कि वह अच्छा कार्य कर लोगों को पूरी लगन से सेवा करना चाहते हो, लेकिन दूसरों की तरह उनमें भी ज्यादा पैसा कमाने, धन जुटाने, अच्छी जीवनशैली की ललक हो सकती। लेकिन इन चीजों के अलावा उन्हें सरकार में रहने से जो शक्ति और रूतबा मिलता है, वह उन्हें दूसरों से अलग करता है।

नौकरशाही में नौकरशाहों के पास खुद के स्तर पर फैसले लेने की बहुत छूट होती है। ऐसे में उसके काम का मात्रात्मक आकलन करना मुश्किल होता है। जबकि बाजार में सफलता का पैमाना फायदे और नुकसान से तय हो जाता है। ऐसे में नौकरशाहों के लिए कोई भी काम करने का सबसे अच्छा बचाव यह हो जाता है कि उन्होंने यह काम जन हित में किया है। ऐसे में कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि नौकरशाह इसका फायदा उठाते हुए अपने हित को साधने में लग जाए। वास्तव में निजी क्षेत्र में प्रिंसिपल और एजेंट की समस्या के बारे में काफी चर्चा हर स्तर पर की जा चुकी है। हालांकि इस प्रक्रिया के तहत ऐसी व्यवस्था बनती है जिसमें शेयरहोल्डर्स (प्रिंसिपल) और प्रबंधक (एजेंट) की कंपनी में हिस्सेदारी बेचने, अधिग्रहण करने, नए बोर्ड का गठन करने, कॉरपोरेट गवर्नेंस के नियम बनाने और प्रतिस्पर्धा के तहत बाजार में अपनी स्थिति मजबूत करने की जिम्मेदारी होती है। हो सकता है, यह व्यवस्था बहुत अच्छी तरह से काम नहीं करें लेकिन फिर भी वह सरकार के प्रिंसपल (वोटर) और एजेंट (नौकरशाह) की व्यवस्था से कहीं बेहतर है जिसमें उनकी जवाबदेही हर पांच साल में चुनाव जीतकर आने वाले जन प्रतिनिधियों के प्रति होती है।

अधिकारी और बजट

वास्तव में नौकरशाह किस बात का अनुसरण करते हैं, इसका निसकानेन व्याख्या करते हुए कहते हैं कि बजट का ज्यादा से ज्यादा इस्तेमाल करना मोटे तौर पर सही कदम लगता है। क्योंकि यह बाजार की तरह ज्यादा से ज्यादा लाभ कमाने पर जोर देता है। बजट के जरिए वह दूसरी प्रभावित करने वाली चीजों जैसे नौकरी की सुरक्षा, पदोन्नति, वेतन में बढ़ोतरी आदि का भी फायदा उठा लेते हैं। इन फायदों को देखते हुए स्पष्ट है कि नौकरशाह राजनीतिक व्यवस्था में एक

हित साधने वाले की तरह है। ऐसे में उन्हें उन लोगों से कोई समस्या नहीं होती है, जो यह सोचते हैं कि सार्वजनिक कामों के नाम पर कुछ लोग मुफ्त में फायदा उठा लेते हैं। क्योंकि उनका समूह कहीं ज्यादा व्यवस्थित होता है, ऐसे में वह आसानी से लॉबिंग का फायदा उठा लेते हैं। हालांकि नौकरशाहों को बजट के लिए राजनेताओं पर निर्भर रहना पड़ता है। हालांकि निसकानेन कहते हैं कि जैसे ही नौकरशाहों को बजट मिल जाता है, तो वह उसके जरिए अपने लिए ज्यादा से ज्यादा फायदे उठाने की कवायद करने लगते हैं। अगर बजट की शर्तें आसान हैं तो वह बेहद आसानी से नए खर्चे दिखाकर बजट का आवंटन बढ़ाने की भी मांग करते हैं। अगर बजट आवंटन में दिक्कत की संभावना दिखती है तो वह काम की गति को सीमित कर देते हैं। जिससे उनके पास पैसा बना रहे, भले ही प्रोजेक्ट पर निवेश की गति थम जाए।

दूसरी तरफ निसकानेन बताते हैं कि नौकरशाह अपने आपको इतना शक्तिशाली बना लेते हैं कि जैसी शक्ति पाने की इच्छा मीडियन वोटर या राजनेता रखते हैं। और वह यह दिखाते हैं कि सरकार द्वारा जो भी काम किए जा रहे हैं और सामाजिक योजनाएं चलाई जा रही हैं, उसके लिए पैसे बचाने में उनका कोई व्यक्तिगत हित नहीं है। नौकरशाह यह बहुत अच्छी तरह से जानते हैं कि राजनेताओं के लिए चुनाव में जनता से किए गए वादे से पीछे हटना संभव नहीं है। ऐसे में भले ही उस योजना की लागत बढ़ जाए या फिर उसके लिए फंड बढ़ाना पड़े तो भी राजनेताओं के लिए पीछे हटना संभव नहीं होगा। इस वजह से जन प्रतिनिधियों के सामने नौकरशाहों की मोल-भाव करने की ताकत बढ़ जाती है। यही नहीं नौकरशाह बजट में किसी तरह की कटौती के प्रस्ताव का भी यह कह कर विरोध करते हैं कि अगर ऐसा किया गया तो सरकार द्वारा दी जा रही प्रमुख सेवाएं प्रभावित हो सकती हैं। इसका उदाहरण समझाते हुए गार्डन ट्यूलॉक ने बताया कि जब संयुक्त राज्य अमेरिका में फेडरल कस्टम सर्विस के बजट में कटौती का प्रस्ताव दिया गया था, उसमें कटौती करने के लिए ग्राउंड पर काम करने वाले कस्टम इंस्पेक्टर को नौकरी से हटा दिया गया, लेकिन दूसरी सेवाओं में कोई कटौती नहीं की गई।

नौकरशाहों की शक्तियों के स्त्रोत

यह हकीकत है कि सरकारों द्वारा जो कानून बनाए जाते हैं, वह बहुत स्पष्ट नहीं होते हैं। यह अस्पष्टता ही नौकरशाहों को ताकत प्रदान करती है। सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारकों का कहना है कि राजनेता जानबूझ कर ऐसे कानून पारित करते हैं, जिसमें स्पष्टता नहीं होती है। ऐसा करके वह अपने पास नौकरशाहों के रूप में मौजूद प्रशासनिक तंत्र अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करते हैं। अगर कानून पूरी तरह से पारदर्शी और स्पष्ट होगा तो विपक्ष सत्ता पाने पर उसे पूरी तरह से पलट सकता है, इस बात का सत्ता में बैठे राजनेताओं को डर सताता है। कारण चाहे जो हो लेकिन कानून को लेकर बड़े पैमाने पर अनिश्चितता के कारण नौकरशाहों को ज्यादा से ज्यादा बजट आवंटन कराने का मौका मिल जाता है।

निसकानेन के अनुसार एक और अहम बात समझनी जरूरी है कि कारोबारी लोग जागरुक उपभोक्ता और हमेशा विश्लेषकों की पैनी नजर में रहते हैं। लेकिन नौकरशाह इन सब दायरों से बाहर होते हैं। हकीकत यह है कि नौकरशाह अपने क्षेत्र के बारे में औसत राजनेताओं की तुलना में कहीं ज्यादा जानकारी रखते हैं। इस कमी के कारण राजनेता नौकरशाहों पर बेहतर तरीके से नियंत्रण नहीं कर पाते हैं। अपने क्षेत्र के बारे में जानकारी रखने का नौकरशाहों को फायदा यह होता है कि वह अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए आसानी से मजबूत रणनीति तैयार कर लेते हैं। ऐसे में वह राजनेताओं को सामने अपने प्रस्ताव को एक सिंगल पैकेज के रुप में पेश करते हैं। इस स्थिति में नेताओं के सामने उसे स्वीकार करने या फिर खारिज करने का ही विकल्प बचता है। इसके अलावा नौकरशाह जानबूझ कर जटिल नीतियां बनाते हैं और उस तरह की नीतियों का समर्थन करते हैं। ऐसा करने की वजह यह होती है कि राजनेताओं की जानकारी औसत होने से नौकरशाहों को नीतियों के निर्माण, बजट आवंटन में ज्यादा अधिकार मिल जाता है। जटिल नीतियों के कारण वह बजट को अपारदर्शी तरीके से इस्तेमाल कर लेते है। इस कारण राजनेताओं में एक घबराहट भी पैदा होती है। क्योंकि उन्हें लगता है कि नौकरशाह उन्हें नियंत्रण कर रहे हैं।

नौकरशाह राजनेताओं से इतने घुले-मिले होते हैं कि कई बार नेताओं को ऐसा लगता है, वह उनके कुछ गोपनीय जानकारियों को सार्वजनिक कर सकते हैं। इस खतरे की वजह से राजनेताओं को आसानी से बजट में कटौती करने से रोक लेते हैं। इसके अलावा जितनी बड़ी सरकार होगी, या फिर जितने ज्यादा फैसले लिए जाएंगे, ऐसे में राजनेताओं द्वारा गलत फैसले की संभावना भी बढ़ जाती है। जो उनके लिए और परेशानी का सबब भी बन सकता है। नौकरशाह अपना हित साधने वाले उन राजनेताओं पर भरोसा कर सकते हैं जिनके पास योजनाओं के निर्माण और धन आवंटन की जिम्मेदारी होती है। इसलिए उनकी हमेशा कोशिश रहती है कि राजनेताओं के जरिए बजट की राशि बढ़ती रहे। इसके लिए वह उन बिजनेसमैन पर निर्भर रहते हैं जो उन योजनाओं के लिए वस्तु और सेवाओं की आपूर्ति करते हैं। नौकरशाहों के पास इसके अलावा वोट देने की शक्ति होती है। ऐसे में अगर किसी सरकार के एक तिहाई या एक चौथाई काम करने वाले लोग सरकारी विभागों में काम करते हो तो उनके परिवारों को मिलाकर एक बड़ा वोटर समूह तैयार हो जाता है। जो कि नौकरशाही को मजबूत करने की सोच से ही वोट करता है। इस समय ज्यादातर देशों में इस तरह की स्थिति है।

नौकरशाही पर कैसे लगे अंकुश

ऐसे क्या तरीके अपनाए जाने चाहिए, जिनका इस्तेमाल कर नौकरशाहों या राजनेताओं के हित को जनता के हित के साथ जोड़ा जा सके? इसके लिए एक विचार यह काम आ सकता है कि विभिन्न एजेंसियों के बीच एक स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का माहौल तैयार किया जाए। इस स्थिति में सेवाओं की आपूर्ति के लिए वह निजी क्षेत्र के खिलाफ लॉबिंग करते हैं। इसका एक सामान्य उदाहरण राजमार्गों की देखभाल और कूड़ा उठाने जैसे कार्यों की व्यवस्था के रूप में दिखता है। इसके अलावा बड़ी एजेंसी को क्षेत्रीय आधार पर विभाजित किया जा सकता है, जिससे कि उसके काम-काज की तुलना की जा सके। उदाहरण के तौर पर एजेंसी को चरणों के आधार पर धनराशि का आवंटन नहीं किया जाए। ऐसा करने से नौकरशाहों के पास राशि को अपने हितों को देखते हुए रोकने की शक्ति खत्म हो जाएगी। इस सिस्टम में राशि कितनी दी जाए, उसे काम खत्म होने के बाद प्रोजेक्ट

की वास्तविक स्थिति को देखते हुए तय किया जाए। हालांकि यह आकलन करना काफी मुश्किल भरा काम है। इसके अलावा यह विचार कि सरकारी कंपनियों की निजी क्षेत्र से प्रतिस्पर्धा कराई जाए, वह भी कई बार परेशानी खड़ी करता है। क्योंकि इसके लिए कम से कम एक सरकारी कंपनी का होना जरूरी है, जो कि टेंडर की समीक्षा कर उसका आकलन करे । साथ ही उस कंपनी की साख खरीदारी के समय बहुत अच्छी नहीं होना भी सवाल खड़े कर सकता है।

फिलहाल के प्रश्न

निसकानेन द्वारा नौकरशाही की पेश की गई तस्वीर पर मौजूदा गेम थ्योरी (खेल सिद्धांत) और दूसरी तकनीकी से सवाल उठाए गए हैं। सार्वजनिक चयन सिद्धांत के कुछ आधुनिक विचारकों ने यह बताने की कोशिश की है कि राजनेताओं के पास नौकरशाहों पर अंकुश लगाने की पर्याप्त शक्ति होती है। राजनेता नौकरशाहों को सजा देने के लिए बजट में कटौती कर सकते हैं, उनके दूसरे भत्तों में कटौती कर सकते हैं। वह विभिन्न जांच के जरिए उन्हें प्रताड़ित भी कर सकते हैं। यही नहीं राजनेता, नौकरशाहों को इस बात की भी चेतावनी दे सकते हैं कि अगर उनकी अकर्मण्यता और अनुचित तरीके से काम करने का मामला सामने आता है तो सार्वजनिक रुप से उनके खिलाफ कार्रवाई की जा सकती है। कुछ नौकरशाहों के खिलाफ ऐसी कार्रवाई कर वह दूसरों में भय पैदा कर सकते है। साफ है कि नौकरशाहों पर अंकुश रखने के लिए राजनेताओं के पास कई तरीके होते हैं। इसके अलावा एजेंसियों पर अंकुश लगाने के लिए राजनेता नए कानून का भी सहारा ले सकते हैं। जो कि अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने लगते हैं। यही नहीं नौकरशाहों में काम की प्रतिस्पर्धा बढ़ाने के लिए राजनेता प्रोत्साहन देने की भी व्यवस्था लागू कर सकते हैं। जिससे उनके काम का स्तर बेहतर हो जाए। इन तरीकों से साफ है कि नौकरशाही के साथ प्रबंधन के लिए बहुत ज्यादा अंकुश की जरूरत नहीं है। ऐसे में निसकानेन और शुरूआती दूसरे विचारक जिस बेलगाम नौकरशाही की बात करते हैं, हकीकत में वह कहीं ज्यादा राजनेताओं को नियंत्रण में रहती है।

सरकारी एजेंसियां केवल कानून के जरिए नहीं बल्कि सांसदों, विधायकों से बनी समितियों से भी नियमन के दायरे में होती हैं। इसके जरिए भी

नौकरशाहों पर नियंत्रण किया जाता है। इन सबके बावजूद अनेक देशों में नौकरशाहों का विस्तार राजनेताओं द्वारा लगातार किया जा रहा है। उनके लिए नई एजेंसी बनाना और जरूरत पड़ने पर उन्हें समाप्त कर अंकुश लगाना भी आसान होता जा रहा है। ऐसे में नौकरशाही के प्रभाव को कम करने की जगह उसका विस्तार करना राजनेताओं के लिए कहीं फायदेमंद होता जा रहा है। जिस तरह से हमारी राजनीतिक व्यवस्था काम करती है, वैसी व्यवस्था में नौकरशाही को खत्म करना तार्किक रूप से गलत होगा। कई सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारकों का कहना है कि इसके बदले में हमें इस बीमारी को खत्म करने के लिए संवैधानिक तरीकों को अपनाना होगा। जिससे उन पर नियंत्रण किया जा सके।

10. संविधान की भूमिका

सार्वजनिक चयन सिद्धांत का तर्क अनिवार्य रूप से यह नहीं कहता है कि हित साधक समूहों, जनप्रतिनिधियों या नौकरशाहों के द्वारा हमेशा हमारा शोषण किया जाता है। सार्वजनिक चयन सिद्धांत के वर्जीनिया स्कूल के विचारकों का मानना है कि संविधान एक ऐसा हथियार है जिसके जरिए आम जन का शोषण रोका जा सकता है। इसके जरिए एक ऐसा संविधान बनने की संभावना है जिसमें तर्किक सोच वाले लोग शामिल होंगे।

बुकानन और ट्यूलॉक ने 'द कैलकुलस ऑफ कंसेंट' पुस्तक में इसकी व्याख्या करते हुए बताया कि पहले तो हमें यह समझना होगा कि सरकार की क्यों जरूरत है? उनका कहना है कि अराजकता एक अवांछनीय स्थिति है। क्योंकि ऐसी स्थिति में कमजोर व्यक्ति ताकतवर से दबाया जाता है। यहां तक कि ताकतवर व्यक्ति भी अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए एक सकारात्मक सहयोग या शांति चाहता है। जिससे कि उसे दूसरों से सत्ता की चुनौती नहीं मिले। इन परिस्थितियों में एक संस्था के रुप में राज्य का उद्भव होता है। जहां पर एक दूसरे के बीच एक समझौता होता है कि वह इस नई व्यवस्था में अराजकता को कोई जगह नहीं देंगे। दूसरों को नुकसान नहीं पहुंचाएंगे, एक-दूसरे की रक्षा करेंगे और सामूहिक फैसले करेंगे।

इन समझौते के जरिए लोग व्यक्तिगत स्तर पर अपनी सुरक्षा पर खर्च होने वाली राशि की बचत करते हैं। साथ ही ऐसे प्रोजेक्ट जो किसी व्यक्ति के लिए अकेले पूरा करना संभव नहीं है, उन्हें भी पूरा करते हैं। साथ ही इन कामों को करने के लिए हर व्यक्ति को शामिल होने की भी जरूरत नहीं पड़ती है। समझौते की इस व्यवस्था को बुकानन और ट्यूलॉक व्यक्तियों के बीच आपसी सहमति से होने वाले अनगिनत समझौतों के तौर पर देखते हैं। समझौतों का इस हद तक विस्तार हो जाता है कि वह एक अनियोजित व्यवस्था का निर्माण कर लेते हैं।

उदाहरण के तौर पर जिस प्रकार न्यायप्रणाली के तहत सुनाए जाने वाले फैसलों की बड़ी तादात एक समय के बाद सामान्य कानून का रूप ले लेती है उसी प्रकार बाजार में होने वाले असंख्य आपसी समझौते से होने वाला व्यापार एक अलिखित व्यवस्था तैयार कर देती है। ऐसा लगता है कि इस व्यवस्था को तार्किक आधार पर एक रूप देकर सुचारू रूप से चलाया जा रहा है, लेकिन हकीकत में यह सामाजिक व्यवस्था स्वतः विकसित होती है, जिसमें अपना हित साधने वाले लोग और तार्किक आधार पर काम करने वाले लोग जुड़े होते हैं।

निर्णय निर्धारण की लागत

बुकानन और ट्यूलॉक के अनुसार समझौते की इस व्यवस्था में किसी भी व्यक्ति पर शामिल होने के लिए दबाव नहीं डाला जाता है। यह पूरी तरह से स्वैच्छिक होता है। इस समझौते का हिस्सा बनकर फायदा लेने के लिए व्यक्तिगत स्तर पर व्यक्ति कुछ अंकुश भी लगाने के लिए सहमत हो जाता है। लेकिन वे इन समझौतों से लगी बंदिशों को अराजकता वाली व्यवस्था से कहीं बेहतर मानते हैं। ऐसे में समझौते पूरी तरह से आम सहमति से होते हैं। समझौते की शर्तें ठीक उसी तरह होती हैं जैसे बाजार में किसी वस्तु या सेवाओं की खरीदारी के लिए एक व्यक्ति को पूरी तरह से फैसले लेने की छूट मिलती है। उसी तरह समझौते की व्यवस्था में भी किसी के ऊपर कोई दबाव नहीं बनाया जा सकता है, साथ ही बुरी स्थिति में व्यक्ति समझौते से अलग भी हो सकता है।

लेकिन समस्या तब खड़ी होती है जब यह फैसले का वक्त आता है कि सामूहिक रुप से कौन से काम किए जाएं। हालांकि सामूहिक फैसले से एक-दूसरे के हितों की रक्षा तो होती है लेकिन इससे अल्पमत समूह के शोषण का खतरा भी बढ़ जाता है। अगर फैसला सबकी सहमति (आम सहमति) से होता है तो अल्पमत समूह के शोषण की संभावना कम रह जाती है। आम सहमति की व्यवस्था का फायदा यह होता है कि अगर कोई व्यक्ति किसी मुद्दे का समर्थन नहीं करना चाहता है तो वह वीटो कर सकता है। लेकिन किसी मुद्दे पर आम सहमति बनाने का मूल्य काफी महंगा पड़ता है। क्योंकि एक व्यक्ति भी बाकी लोगों के मत को पलट सकता है। आम सहमति का एक पहलू यह भी है कि इसके जरिए किसी व्यक्ति के शोषण को रोका जा सकता है लेकिन सामूहिक फैसले से होने

वाले कई फायदे भी आम सहमति नहीं होने से रुक भी सकते हैं। ऐसे में एक ऐसा नियम होना चाहिए जिसमें आम सहमति से थोड़ी कम सहमति की जरूरत हो, जिससे कि सामूहिक फैसले आसानी से लिए जा सके। साथ ही किसी व्यक्ति के शोषण की संभावना भी कम रह जाती है।

इस पहेली को सुलझाने के लिए बुकानन और टुलॉक दो चरण वाली प्रक्रिया के बारे में समझाते हैं। उनके अनुसार पहला संवैधानिक चरण होता है। जिसमें लोग उन क्षेत्रों की पहचान करते हैं जहां पर सामूहिक फैसले लेने की जरूरत होती है। और उसके लिए किस आधार पर फैसले लिए जाएंगे, उसके नियम बनाए जाते हैं। जब मुद्दे और फैसले लेने के नियम तय हो जाते हैं, तो क्या हम दूसरा चरण की ओर बढ़ जाते हैं। जहां पर वह फैसले लिए जाते हैं जिन्हें आम सहमति के जरिए अमलीजामा पहुंचना पड़ता है। संवैधानिक चरण वह होता है, जहां पर यह फैसले लिए जाते हैं कि हमें क्या फैसले लेने हैं और उन्हें कैसे लागू किया जाएगा। बुकानन और ट्यूलॉक दूसरे चरण को उदाहरणों से समझाते हैं, तेल उत्खनन करने वाली कंपनियां किसी तेल कुएं के लिए मिलकर प्रबंधन करने का फैसला करती हैं। इसके तहत वह यह भी फैसला करती हैं कि तेल उत्खनन में किस कंपनी के पास क्या अधिकार होंगे। लेकिन जब बात दूसरे चरण में पहुंचती है, जहां पर फैसलों को अमल में लाया जाता है, वहां पर कंपनियां कोटे के लिए तय मात्रा पर पर सहमत नहीं हो सकती हैं। बुकानन और ट्यूलॉक का मानना है कि संवैधानिक व्यवस्था में आम सहमति का होना आवश्यक है। क्योंकि कोई भी तार्किक और अपने हितों की परवाह करने वाला व्यक्ति ऐसा कोई फैसला नहीं मानेगा, जिससे भविष्य में उसे कोई नुकसान हो या फिर उसका शोषण संभावना बने। हो सकता है कि आम सहमति होना एक मुश्किल काम हो, लेकिन सामान्य तौर पर समाज से मिलने वाली सुरक्षा और अराजकता वाली व्यवस्था को रोकने में लोग आम सहमति बना लेते हैं। हालांकि कोई भी यह निश्चित रूप से नहीं जानता है कि उसके द्वारा लिया गया फैसला, भविष्य में उसके ऊपर वास्तव में क्या असल डालेगा। हर कोई उन्हीं तरीकों को अपनाता है, जो उन्हें सुरक्षा का भरोसा दिलाते हैं।

संविधान के मूल तत्व

संविधान का जो सबसे अहम काम है, वह यह है कि उसे सामूहिक फैसले लेने के लिए बहुमत के नियम बनाने होंगे। सामान्य तौर पर आम लोगों का यही मानना है कि सामूहिक फैसले के लिए साधारण बहुमत के नियम पर्याप्त होंते हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि हम जो भी फैसला करते हैं, वह अपने दोस्त और साथी के साथ मिलकर करते हैं। संविधान बनाते समय जब नियम तय किए जाते हैं तो वह कई तरह के हो सकते हैं लेकिन साधारण वोटिंग के एक ही नियम होते हैं। मान लीजिए कोई कंपनी अपना संविधान बनाती है, तो वह अलग-अलग फैसलों के लिए वोटिंग नियमों को बनाती है। जनसंख्या के आधार पर देखा जाय तो 51 फीसदी आबादी, 49 फीसदी आबादी के मुकाबले बहुत ज्यादा नहीं लगती है। लेकिन वोटिंग व्यवस्था में बहुमत वोट काफी प्रभावशाली हो जाता है। और वह 49 फीसदी वाले समूह से कहीं ज्यादा मजबूत हो जाता है।

बुकानन और ट्यूलॉक ने हालांकि कुछ मुद्दों पर बहुमत के लिए ज्यादा वोटों की जरूरी बताया है। इस तरह की बहुमत संख्या उन जगहों पर इसलिए जरूरी है जहां पर अल्पमत समूह के शोषण का खतरा होता है। इससे भी बड़ी समस्या यह है कि संख्या के आधार पर अल्पमत समूह की आबादी बहुत ज्यादा होती है। ऐसे में बड़ी संख्या में लोग शोषण का शिकार हो सकते हैं। हालांकि बुकानन और ट्यूलॉक का मानना है अल्पमत समूह के साथ होने वाले इस खतरे का आभास तार्किक सोच रखने वाले लोगों के पास होता है। ऐसे में उन्हें संवैधानिक सुरक्षा मिलना बेहद जरूरी है।

संवैधानिक स्तर पर एक व्यक्ति को हमेशा यह डर लगा रहता है कि सरकार के स्तर पर बनने वाली नीतियां कैसी रहेंगी। नई नीतियों से फायदा होगा या नुकसान होगा, उसे इस बात की चिंता भी सताती है। इसलिए व्यक्ति अपने स्तर पर कानून के जरिए बहुमत समूह से होने वाले नुकसान की आशंका से डरता है। ऐसे अगर हर मुद्दे पर आम सहमति की व्यवस्था लागू कर दी गई , तो उस पर वोटिंग कराना और सहमति जुटाना एक जटिल काम हो सकता है। ऐसे में दो तिहाई बहुमत जैसे नियम अल्पमत समूह को होने वाले नुकसान को बहुत हद तक कम कर सकते हैं। संविधान के जरिए विधायकों, सांसदों की शक्ति को भी सीमित किया जा सकता है। ऐसे में हर प्रस्ताव पर एक-एक व्यक्ति को वोटिंग के लिए शामिल करने की जगह जन प्रतिनिधियों को नियुक्त किया जा सकता

है। जो पूरी जनता के नाम पर फैसले लिया करें। हालांकि चुने हुए प्रतिनिधियों को फैसले लेने का पूरा अधिकार देना काफी खतरनाक भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में अल्पमत समूह या किसी भी व्यक्ति के शोषण का खतरा बढ़ा जाता है। क्योंकि हम सभी अपने अनुभवों से जानते हैं कि सत्ता व्यक्ति को भ्रष्ट बनाती है। इसलिए जन प्रतिनिधियों पर भरोसा करना मुश्किल हो जाता है। इन परिस्थितियों में संविधान को सांसदों, विधायकों और नौकरशाहों पर अंकुश लगाना चाहिए।

बुकानन का राजकोषिय संविधान

बुकानन के अनुसार बहुमत आधारित लोकतांत्रिक व्यवस्था में अल्पमत समूह के शोषण की आशंका को देखते हुए यह जरूरी है कि ऐसी आर्थिक नीतियां बनाई जाए जिससे शोषण की आशंका कम से कम रहे। ऐसे में कर नीतियों पर अंकुश लगाना बेहद जरूरी हो जाता है। इन परिस्थितियों में तार्किक सोच रखने वाले लोगों को इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि टैक्स नियमों का शुरू से ही विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाय। उदाहरण के लिए अगर एक ऐसा टैक्स कोड लाया जाता है, जिसमें अमीर तबके पर ज्यादा टैक्स का बोझ पड़ेगा। ऐसे में गरीब तबका इस प्रस्ताव के पक्ष में वोट दे सकता है। लेकिन अगर संविधान में यह व्यवस्था हो कि प्रस्ताव को बदला जा सकता है, तो हर बार उसमें बदलाव हो सकता है।

इस स्थिति में आने वाले वर्षों में सामाजिक बदलावों को देखते हुए टैक्स कोड का वास्तविक रूप क्या होगा, इसका अंदाजा लगाना बहुत मुश्किल हो जाएगा। हो सकता है कि अभी आप बहुमत समूह में हैं लेकिन कोई नहीं जानता है कि बाद में आप किस समूह में रहेंगे। तार्किक रूप से ऐसी कर प्रणाली होनी चाहिए जिसमें सभी को एक समान रूप से देखा जाए। इसी नजरिए से सरकार को भी अपने खर्च करने चाहिए। बुकानन का कहना है कि संविधान के स्तर पर केवल आम जन को फायदा पहुंचाने वाले खर्च को आम सहमति के आधार पर तय करने का प्रावधान होना चाहिए। सामाजिक बदलाव की स्थिति में जब किसी व्यक्ति की स्थिति में समूह के आधार पर बदलाव होने की संभावना रहती है, तो उस स्थिति में किसी खास समूह के फायदे के लिए नियमों में बदलाव की जरूरत नहीं रह जाती है। बुकानन ने इस संभावना के बारे में बहुत पहले ही हमें

बता दिया था जिसकी आज हम चर्चा कर रहे हैं। इसलिए राज्य ज्यादातर अपने खर्च हित साधने वाले समूह पर करते हैं, जिससे उनको फायदा मिलता रहे। आज के दौर में ऐसे गैर विभेदकारी संविधान की संभावना बहुत कम हो जाती है। जिसमें यह उम्मीद की जाती थी कि तार्किक और निष्पक्ष सोच वाले बराबरी का संविधान बनाएंगे। शायद कल्याणकारी योजनाओं का लाभ लेने वाले कुछ लोग इस बात की कोशिश करें, कि एक गैर विभेदकारी संविधान का निर्माण किया जा सके।

बुकानन का मानना है कि अगर संविधान में मजबूत कर नियम बनाए जाए तो कर का बोझ कम हो सकता है। साथ ही ऐसा सिस्टम तैयार किया जा सकता है कि जिसमें किसी खास समूह के हितों को फायदा पहुंचाने वाली कर प्रणाली लागू नहीं की जा सके। इसके लिए निश्चित तौर पर ऐसा नियम बनाए जाए, जिसमें कर का बोझ और सरकार द्वारा किए जा रहे खर्च को विभिन्न समूहों की जरूरतों को देखते हुए तय किए जाए। इसके लिए एक संतुलित बजट बनाने की आवश्यकता होगी। ऐसा करने से बहुमत समूह, अपने फायदे के लिए ऐसी कोई योजना या कर प्रणाली नहीं लागू कर पाएगा, जिसका आर्थिक नुकसान भविष्य की पीढ़ी को उठाना पड़े। कर लगाते समय यह बताना भी जरूरी होगा कि उसे लगाने का उद्देश्य क्या है। इसी तरह संपत्ति के मालिकाना हक के लिए मजबूत कानून होना बहुत जरूरी है। जिसमें सरकार की सीमा तय होनी चाहिए कि वह किस हद तक निजी संपत्ति का अधिग्रहण कर सकता है। साथ ही सरकार कितनी मात्रा में करंसी छाप सकती है, इसके भी नियम तय होने चाहिए। अगर ऐसा नहीं किया जाता है तो सरकार किसी खास समूह को फायदा पहुंचाने के लिए आम जनता पर चोरी से कर लगा सकती है। इस कदम का सबसे बड़ा नुकसान यह होता है कि थोड़े से लोगों को फायदा पहुंचाने के लिए बड़ी संख्या में लोगों को नुकसान पहुंचता है। इन स्थितियों में आम सहमति का नियम नहीं लागू होने से राज्य को अपने प्रभुत्व का विस्तार करने का मौका मिल जाता है, जिसमें वह अपने हितों को देखते हुए कुछ समूहों को फायदा पहुंचाता है तो कुछ को मिलने वाले फायदे से दूर रखता है।

संघवाद

सत्ता को सीमित करने का एक तरीका यह है कि शक्तियों को बांट दिया जाए। वर्जीनिया स्कूल, स्थानीयवाद और संघवाद का इच्छुक भी है। फैसले की लागत और उससे होने वाले फायदे को लेकर केंद्र और स्थानीय स्तर की सरकार के बीच व्यापार को लेकर सीधे तकरार होती है। बड़े समूह की तुलना में छोटे समूह में किसी भी फैसले पर सहमति बनाना आसान होता है। इसलिए स्थानीय स्तर पर फैसला लेना कहीं ज्यादा संभव लगता है। राष्ट्रीय सरकार भले ही देखने में प्रभावशाली लगती हो लेकिन उसको चुनने वाले वोटर की संख्या को देखते हुए, उनके लिए किसी भी समझौते पर पहुंचना आसान नहीं होता है। वोटर की सोच भी समझौते में अहम भूमिका निभाती है। अगर वोटर का समूह ऐसा है जो एक जैसी सोच, मूल्य और दृष्टिकोण रखते हैं तो किसी मुद्दे पर आम सहमति बनाना आसान हो जाता है। जबकि उसके उलट अगर जनसंख्या में अलग-अलग विचारधारा के लोग हो तो सहमति बनना मुश्किल हो जाता है। खास तौर से अगर जनसंख्या बहुत ज्यादा हो और अलग-अलग सोच वाले समूह में सामूहिक फैसला लेना एक तरह से असंभव हो जाता है। ऐसी स्थिति में हर मुद्दे पर सार्वजनिक फैसला लेने से अच्छा होता है कि मुद्दे की जरूरत को देखते हुए निजी स्तर पर फैसले लिए जाए। इसके लिए संयुक्त राज्य अमेरिका एक प्रमुख उदाहरण हो सकता है, जिसकी न केवल जनसंख्या ज्यादा है बल्कि वहां के समाज में विविधता भी ज्यादा है। वहीं अगर समाज में विचारों को लेकर समानता है, और उसमें शामिल लोगों की संख्या कम है तो सामूहिक फैसले लेना कहीं ज्यादा आसान होता है। स्कैंडेनेवियन समाज इसके बेहतरीन उदाहरण हैं। इन सबके बावजूद निश्चित तौर पर कुछ फैसले राष्ट्रीय स्तर पर ही लिए जा सकते हैं। उहारहण के तौर राष्ट्रीय आर्थिक नीति का मामला हो या फिर राष्ट्रीय सुरक्षा नेटवर्क की बात हो तो उन पर राष्ट्रीय स्तर पर ही फैसला लिया जा सकता है। इसी तरह कुछ नीतियां ऐसी हो सकती है, जिनका भौगोलिक स्थिति के आधार पर प्रभाव पड़ता है। ऐसे फैसलों को सार्वजनिक स्तर पर लागू करने से कुछ क्षेत्र को फायदा पहुंचता है तो कुछ क्षेत्र को नुकसान होता है। उदाहरण के तौर पर जैसे किसी क्षेत्र में नए औद्योगिक विकास से वहां के नदी से दूसरे शहरों में जाने वाला प्रदूषण उन्हें नुकसान पहुंचाने लगता है। सामान्य तौर पर स्थानीय स्तर पर

लिए जाने वाले फैसले ही राजनीतिक रूप से बेहतर विकल्प होते हैं। क्योंकि किसी क्षेत्र में नाइट क्लब खुलना चाहिए या नहीं, यह पूरी तरह से स्थानीय फैसला होता है। इन मुद्दों को लेकर राष्ट्रीय स्तर पर सहमति बनाने का कोई मतलब नहीं बनता है

संघीय व्यवस्था में स्थानीय स्तर पर जरूरतों को देखते हुए, सरकारों के गठन, सेवाएं देने, कानून और नियमन बनाने का मौका मिलता है। यही नही किसी फैसले पर अगर कोई असहमति रखता है तो वह उसका विरोध जताता है। अगर किसी क्षेत्र में बहुमत समूह किसी व्यक्ति का शोषण करता है तो उसके पास दूसरे क्षेत्र में जाने का मौका भी मिल जाता है। हालांकि किसी जगह से अगर आप काफी समय से जुड़े हुए हैं तो वहां से अलग होना आसान नहीं होता है। ऐसा करना किसी भी व्यक्ति को दुख पहुंचाता है। लेकिन इसके बावजूद विरोध करने वाले व्यक्ति को मिला यह अधिकार स्थानीय सरकार पर अंकुश लगाता है।

समस्या और सिद्धांत

वर्जीनिया स्कूल द्वारा प्रतिपादित संविधान सभी लोगों को संतुष्ट नहीं करता है। कुछ आलोचकों का मानना है कि बुकानन और ट्यूलॉक ने अल्पमत समूह के जिस जोखिम की बात की है, वह काफी बढ़ा-चढ़ा कर की गई है। यही नहीं सामूहिक फैसलों से अल्पमत समूह को कहीं ज्यादा फायदे मिलते हैं। जैसे कि सामूहिक फैसले के कारण ही ज्यादा कर देने से भी अल्पमत समूह बच जाते हैं।

हकीकत यह है कि जिस संविधान की हम बात करते हैं, वह भी सभी व्यक्ति की पूर्ण सहमति से नहीं बनता है। आज के दौर में लोग पुराने संवैधानिक नियमों से बंधे हुए हैं, जो उनके पूर्वजों ने बनाए हुए हैं। उन पूर्वजों की आज के दौर में कोई मौजूदगी नहीं है। दुनिया के अधिकतर संविधानों में अल्पमत समूह को सीमित किया गया है, और उसकी जगह हित साधने वाले समूहों ने ली हुई है। जहां पर कोई भी नियम साधारण बहुमत से पारित किया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर ब्रिटेन की संसद में बहुमत के फैसले से हाउस ऑफ लॉर्ड्स की शक्ति और सदस्यता के नियमों में बदलाव किया गया है। यही नहीं यूरोपीय संघ की बहुत सी गतिविधियों को बिना उसकी अनुमति के सीमित या खत्म कर दिया गया। इसके लिए संसद द्वारा ब्रिटिश नागरिकों से किसी भी तरह की सहमति

नहीं ली गई। ऐसी स्थिति में संसद ही संप्रभु हो जाती है और उसके ऊपर कर लगाने या संपत्ति को कब्जे में लेने संबंधी कानून बनाने को लेकर कोई संवैधानिक अंकुश नहीं रह जाता है। ऐसी स्थिति में अगर किसी फैसले का विरोध लोग नहीं करते हैं तो इसका मतलब यह कतई नहीं है कि वह संविधान के साथ हैं।

इन विश्लेषणों से साफ है कि वर्जीनिया स्कूल के संविधान के सिद्धांत ने आर्थिक और राजनीतिक सिद्धांतों में काफी अहम बदलाव किये है। एक समय अर्थशास्त्रियों का मानना था कि वह यह समझते हैं कि सुधारों के लिए किस तरह की नीतियां बनाई जानी चाहिए। जिससे कि समाज को बड़े पैमाने पर लाभ मिल सके। लेकिन वर्जीनिया स्कूल ने यह बताया कि अर्थशास्त्री लोगों के मन और दिमाग को नहीं समझ सकते हैं। इसलिए वह यह नहीं समझ सकते हैं कि जो नीतियां लागू की गई हैं, उसको लेकर वे हकीकत में क्या सोचते हैं? उनसे केवल यह पूछा जा सकता है कि नई नीतियों को लेकर वह क्या सोचते हैं? हालांकि यह भी समझना जरूरी है कि यह पूछे जाने के बावजूद हम किसी व्यक्ति को होने वाले फायदे या दूसरे व्यक्ति को होने वाले नुकसान की तुलना नहीं कर सकते हैं। हम उस वक्त ही किसी समझौते के फायदे को लेकर कोई बात कह सकते हैं जब उस पर पूरी तरह से सहमति हो। इन परिस्थितियों में जब हम ऐसे संविधान को बनाने की कोशिश कर रहे हैं जो टिकाऊ हो तो ऐसी स्थिति में उसका महत्व काफी बढ़ जाता है, क्योंकि उसी के जिम्मे नीतियां बनाने का अधिकार होता है, जो आने वाले समय को प्रभावित करता है।

11. उपलब्धियां और मुद्दे

सार्वजनिक चयन सिद्धांत, राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन कर रहे अर्थशास्त्रियों, राजनीति विज्ञानियों और यहां तक कि आम जन के नजरिए में अहम बदलाव लाने में सफल रहा है। यह विस्तार पूर्वक बताता है कि कैसे राजनीतिक संस्थाओं और उसके लिए फैसले लेने वाले लोगों के हित पूरी राजनीतिक प्रक्रिया मे शामिल होते हैं। सवाल यह भी उठता है कि जब पूरी दुनिया में अलग-अलग तरीके की राजनीतिक व्यवस्थाएं लागू हैं, ऐसे में जन इच्छा सिद्धांत को वास्तविक दुनिया के साथ जोड़ने के लिए कौन से दृष्टिकोण कारगर होंगे। लेकिन हमें यह भी समझना होगा कि सार्वजनिक चयन विषय बहुत ही नया है, ऐसे में उसे बेहतर करने की आने वाले समय में अपार संभावनाएं हैं।

कुछ उपलब्धियां

सार्वजनिक चयन सिद्धांत ने सफलतापूर्वक अर्थशास्त्रियों की उस सोच को नकार दिया है, जिसमें वह यह मानते थे कि बाजार की असफलता को दूर करने का सबसे कारगर उपाय, सरकार का हस्तक्षेप है। जन इच्छा के जरिए हमें यह पता चलता है कि सरकारें भी असफल हो सकती हैं। उसकी वजह राजनीति में एकाधिकार को बढ़ावा देने वाली सरकारी की नीतियों, सूचनाओं की सही जानकारी नहीं होना और सरकार द्वारा उठाए गए औसत दर्जे के कदम असफलता की वजह बनते हैं। यही नहीं राजनीतिक व्यवस्था में चुनाव प्रक्रिया की खामियां, वोटिंग प्रणाली, वोटर द्वारा चतुराई से की गई वोटिंग, अपना हित साधने वाले समूहों का गठबंधन, सांसदों, विधायकों और नौकरशाहों के निजी हित, सरकार के फैसले की प्रक्रिया को ही दूषित कर देते हैं। कई मामलों में हम यह भी समझ जाते हैं कि बाजार की असफलता की वजह वह खुद ही है, ऐसे में वहां पर राज्य

को हस्तक्षेप करने की जरूरत नहीं है।

सार्वजनिक चयन सिद्धांत ने अर्थशास्त्रियों की उस मान्यता पर भी चोट की, जिसमें वह यह मानते थे कि जनहित के लिए विशेषज्ञों के जरिए ही बेहतरीन नीतियां बनाई जा सकती हैं। जबकि सार्वजनिक चयन सिद्धांत का मानना है कि जनहित के लिए नीतियां बनाने के लिए व्यक्ति की इच्छा और सोच काफी महत्व रखती है। जिसे किसी गणितीय फॉर्म्युले के जरिए जोड़ा, घटाया और उसका औसत नहीं निकाला जा सकता है। सार्वजनिक चयन सिद्धांत की एक और अहम खासियत यह है कि वह सरकार के काम-काज का मूल्यांकन करती है, तथा यह सवाल खड़े करती है कि सरकार के काम-काज और मौजूदा राजनीतिक संस्थाओं में किस तरह की खामियां हैं।

इसके अलावा सार्वजनिक चयन सिद्धांत के जरिए हमें यह भी पता चला कि अपने हित साधने वाले समूह, गठबंधन, लॉगरोलिंग (वोट के सौदे), रेंट सीकिंग (सरकार से मिलने वाली आर्थिक सहायता और सब्सिडी), चतुराई भरी वोटिंग, और वोटर द्वारा जानबूझकर वोट देने से दूरी बनाना जैसी परिघटनाएं राजनीतिक व्यवस्था में कैसे काम करती हैं। यही नहीं जन इच्छा सिद्धांत यह भी बताता है कैसे वोटर, सांसद, विधायक और नौकरशाहों के अपने हित राजनीति में काम करते हैं और क्यों आम जन राजनीति पर सवाल उठाते हैं। इसके अलावा यह हमें बताता है कि कैसे राजनीति संस्थाओं के फैसले अहम मौके पर सामूहिक सोच से अलग होते हैं। जिस कारण राजनीतिक संस्थाएं अक्सर असफल हो जाती हैं। साथ ही सार्वजनिक चयन सिद्धांत हमें यह भी याद दिलाता है कि इन परिस्थितियों को सुधारने के लिए हमारे पास क्या विकल्प है। मसलन बहुमत की अलग-अलग प्रणाली, वोट हस्तांतरण और संवैधानिक सुधार के जरिए हम सरकार की नाकामी को कम कर सकते हैं।

स्वहित का प्रश्न

हालांकि सार्वजनिक चयन सिद्धांत के कई नजरियों पर सवाल भी उठाए गए हैं। मसलन कुछ लोग यह जानना चाहते हैं कि क्या इसे रेखांकित करने वाला तार्किक व्यक्तिवाद, वास्तव में मानव व्यक्तित्व की सही व्याख्या है। चूंकि मानव एक सामाजिक प्राणी है, ऐसे में वह जब भी कोई फैसला लेता है या कुछ सोचता

है, तो उसके अंदर यह निहित गुण असर डालते हैं। जबकि सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारकों का मानना है कि तार्किक आधार पर फैसला लेना मानव की सबसे अच्छी खासियत है। जन इच्छा के इस तर्क पर सवाल उठाते हुए दूसरे विचारकों का कहना है कि किसी भी व्यक्ति के ऊपर उसके अनुवांशिक गुणों का काफी प्रभाव होता है। ऐसे में तर्कसंगत फैसले लेने की उसकी क्षमता सीमित हो जाती है। आलोचकों का कहना है कि हकीकत में मानव समूह में काम करता है। कई लोग वित्तीय क्षेत्र में निवेश के तरीके की आलोचना करते हैं। उनका कहना है कि ज्यादातर लोग सामूहिक सोच के आधार पर फैसला करते हैं। इसी तरह हमें लगता है कि ज्यादातर लोग अपनी स्वाभाविक सोच के आधार पर फैसला लेते हैं, लेकिन उन फैसलों में कहीं न कहीं समाज की सोच जरूर दिखती है। लेकिन क्या हम वास्तव में उतने तार्किक और व्यक्तिवादी हैं जितना कि सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारक सोचते हैं।

इन्हीं फैसलों को जन इच्छा विचारक तार्किक मानने की गलती कर बैठते हैं। इसी तरह राजनीति में भी एक-दूसरे को फायदा पहुंचाने के लिए क्या तार्किक सोच के आधार पर फैसले लिए जाते हैं या फिर सत्ता में विभिन्न व्यक्तियों के समूह अहम फैसले लेने वाले व्यक्तियों पर दबाव डालते हैं, कि वह उनकी मांगों को पूरा करें? इस पर जन इच्छा विचारक मानते है कि राजनीति में भी तार्किक सोच वाले व्यक्ति फैसला करते हैं या फिर सामूहिक फैसले का दबाव भी, तार्किक सोच का ही परिणाम है। क्योंकि वह यह मानते हैं कि बहुमत समूह अल्पमत पर हमेशा दबाव बनाता है।

यह सवाल उठता है कि कोई वोटर क्यों वोट देने के लिए फैसला करता है, जबकि उसे यह पता होता है कि अकेले उसका वोट चुनाव परिणाम पर कोई प्रभाव डालता है। यहां तक अगर वह असर डालता भी है तो भी उसका वोट व्यक्तिगत स्तर पर क्या प्रभाव डालेगा यह अनिश्चित होता है। तो क्या ऐसे में हमें वोटर के इस व्यवहार को समझने के लिए आर्थिक नजरिए के साथ साथ मानव सामाजिक मनोविज्ञान के आधार को परखने की जरूरत है?

इस सवाल के जवाब में सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारक यह तर्क देते हैं कि इस बात से फर्क नहीं पड़ता है कि वास्तव में प्रोत्साहन कैसे और कहां से प्राप्त होता है। महत्वपूर्ण ये है कि हमारे कुछ मूल्य, कुछ उद्देश्य और इच्छाएं

होती हैं और हम उन्हें अधिकतम करने का प्रयास करते हैं। हम भीड़ का हिस्सा होना चाहते हैं या हम अन्य लोगों की सेवा करना चाहते हैं या सम्मान के साथ जीना चाहते हैं या हमने कुछ आदर्शवादी लक्ष्य तय किये हैं। इन कार्यों को करते हुए हम दरअसल अपनी इच्छाओं और रुचियों को पूरा करने का ही कार्य कर रहे होते हैं। संभव है कि दान का कार्य करते हुए हम अपने आप को कुछ गरीब बना लें लेकिन जरूरतमंदों की सहायता करके हमें अच्छा महसूस होता है। जन इच्छा विचारकों का मानना है कि राजनीतिक व्यवस्था में मौजूद हितों को देखते हुए ही अपने हितों को साधने के लिए लोग प्रेरित होते हैं। हालांकि यह इच्छा सभी व्यक्तियों के अंदर सभी परिस्थितियों में निकलकर सामने नहीं आती है।

संवैधानिक मुद्दे

कुछ सवालों के जवाब जो अभी नहीं मिल पाएं हैं, जैसे कि ऐसी परिस्थिति में क्या कोई ऐसा संवैधानिक नियम बनाया जा सकता है, जिससे अपने हितों को तरजीह देने वाले नेता जनहित के लिए नीतियां बनाने के लिए मजबूर हो जाएं। बुकानन इस सवाल का जवाब देते हुए कहते हैं, अमेरिका के संविधान में सत्ता का दो विधायिकाओं (हाउस ऑफ रिप्रजेंटेटिवस और सीनेट), राष्ट्रपति और न्यायपालिका के तहत बंटवारा किया गया है। इसके अलावा राष्ट्रपति द्वारा किसी कानून पर किए गए वीटो और संवैधानिक बदलावों को स्वीकार करने के लिए एक निश्चित बहुमत की आवश्यकता भी जरूरी है। इन व्यवस्थाओं के बाद भी अमेरिकी राजनीति वोट के सौदे (लॉग रोलिंग), आर्थिक फायदा और सब्सिडी (रेंट सीकिंग) से अछूती नहीं रही है। यही नहीं इस दौरान सांसदों और नौकरशाहों के अधिकार कम होने की बजाय मजबूत हुए है। बुकानन के शब्दों में अमेरिकी व्यवस्था अंकुश वाली सरकार की जगह संवैधानिक अराजकता में बदल गई है।

कुछ आलोचक वर्जीनिया स्कूल द्वारा संविधान पर ज्यादा जोर दिए जाने को लेकर चिंता जताते हैं। अमेरिकी संविधान भी विभिन्न मुद्दों पर आम सहमति की अनदेखी करता है। ऐसे में क्या हम कह सकते हैं कि जिन व्यक्तियों ने कभी भी वोट नहीं डाला है, वह चतुराई से वोटिंग करेंगे। दुखद सच्चाई यह है कि जनता राजनीति के जरिए लंबे समय से अनेक तरह की अन्याय करती रही है। शायद सामाजिक दबाव की वजह से सत्ता का अधिकार मजबूत होता चला जाता है।

ऐसे में संवैधानिक अराजकता को खत्म करने के लिए शायद एक क्रांति की जरूरत है। लेकिन मौजूदा कुलीन वर्ग इस संबंध में कोई रुचि नहीं दिखाता है। उधर, आम जनता का हित भी विघटित होने के कारण बड़े सुधार की गुंजाईश कम है।

वर्जीनिया स्कूल के विचारकों का मानना है कि जो लोग राज्य की तानाशाही का विरोध करते हैं, वह वास्तव में सरकार को शक्ति देने से डरते हैं? हो सकता है कि लोग सामूहिक फैसलों का समर्थन कर, न केवल मिलने वाले फायदे को उठाना चाहते हैं बल्कि उस जोखिम से बचना चाहते हैं, जिसमें उनकी शोषण की संभावना रहती है। शायद उन्हें समर्थन देने से लगता है कि यह खतरा भविष्य के लिए टल गया है?

यह ऐसे सवाल है कि जिनका जवाब आज प्रयोगात्मक अर्थशास्त्री ढूढ़ने की कोशिश कर रहे हैं। उदाहरण के तौर पर जॉन रॉल्स ने एक प्रसिद्ध सिद्धांत दिया है। अगर लोगों को ऐसी सामाजिक व्यवस्था चुननी हो, जिसमें उन्हें अपनी हैसियत के बारे जानकारी नहीं है, तो वह ऐसी वेतन की व्यवस्था चुनेंगे जहां पर न्यूनतम वेतन बहुत ज्यादा हो। वह कभी भी घोर गरीबी का विकल्प नहीं चुनेंगे। लेकिन 1987 में नॉर्मन फ्रोहलिक और दूसरे सहयोगियों ने छात्रों पर प्रयोग किया। इसके तहत छात्रों ने जॉन रॉल्स के उदाहरण वाली व्यवस्था का चयन नहीं किया। बल्कि उन्होंने एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की बात की, जिसमें औसत आय बहुत ज्यादा होगी, जिसमें कुछ लोगों की बहुत ज्यादा आय होगी, तो कुछ की थोड़ी ज्यादा कम होगी। दूसरे शब्दों में कहे तो छात्र अपने भविष्य को लेकर कुछ जोखिम लेने को तैयार थे। तो बुकानन और ट्यूलॉक की मान्यता के विपरीत संवैधानिक बदलाव की स्थिति में भी लोग बहुत ज्यादा जोखिम लेने को तैयार नहीं हैं।

आत्मकेंद्रित सार्वजनिक चयन

सार्वजनिक चयन सिद्धांत की वकालत करने वालों को एक अहम आलोचना का सामना करना पड़ता है। आलोचकों का मानना है कि सिद्धांत को मानने वाले लोग मुद्दों में अपने हित शामिल कर लेते हैं। वर्जीनिया स्कूल के जेम्स एम. बुकानन. विलियम ए. निसकानेन, गॉर्डन ट्यूलॉक और शिकागो स्कूल के गैरी

एस. बेकर और जॉर्ज जे. स्टिगलर इन लोगों में शामिल हैं। ये अपने आप को उदारवादी मानते हैं (अमेरिकी व्यवस्था की तुलना में यूरोपीय व्यवस्था के हिसाब से)। ऐसे में यह सवाल उठता है कि इन विचारकों ने सरकार की जो खासियत बताई है क्या वास्तव में वह इसलिए बताई है क्योंकि यह लोग खुद राज्य की सत्ता को पसंद नहीं करते थे।

सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारक बहुत अच्छी तरह से जानते थे कि बाजार पूरी तरह दोषरहित नहीं है। लेकिन उन्होंने बताया कि सरकार के फैसले भी अनेक खामियों से युक्त होते हैं। यह प्रदर्शित करना बहुत आसान है कि बहुमत वाले मतदान, हित साधक समूहों की उपस्थिति, रेंट सीकिंग व अन्य चीजें सरकार को अनुपयुक्त रूप से विशाल बना देती हैं। यह कोई राजनीतिक बयान नहीं बल्कि व्यवहारिक और आर्थिक सच्चाई भी है। उनका उद्देश्य इन खामियों को सामने लाने के लिए कुछ उदाहरणों के जरिए उन्हें समझाना था। साथ ही संस्थागत सुझाव देकर उसमें कुछ सुधार लाने में सहयोग करना था।

खास तौर से शिकागो स्कूल के विचारक सरकार के आर्थिक फैसलों पर अध्ययन करते हैं। वे सरकार के फैसलों को सूक्ष्म आर्थिक सिद्धांतों के चश्मे से देखते हैं। इसके लिए वे कीमतें तय करने के नए सिद्धांत, संतुलित विश्लेषण और तार्किक सोच जैसे तरीकों का इस्तेमाल करते हैं। वे आम जन के फैसले लेने की प्रक्रिया और मूल्य आधारित फैसलों को तरजीह नहीं देते हैं। वह सरकार को राजनीतिक बाजार के रूप में देखते हैं, जिसमें तार्किक व आत्म केंद्रित आर्थिक एजेंट की अहम भूमिका होती है । विचारक इस व्यवस्था में धन और संपत्ति को पूरे समुदाय में पुर्नवितरित करने का विचार रखते हैं। उदाहरण के तौर पर कीमतें तय करने में सरकार के नियम और नियमन की भूमिका आपूर्तिकर्ता के रूप में होती है, जबकि आम जनता की भूमिका मांग करने वालों के रूप में होती है। वह यह बताते हैं कि राजनैतिक बाजार इसके लिए कितना मजबूत है और तकनीकी रूप से कितना सक्षम है। एक और उदाहरण से समझते हैं कि अगर सरकार कृषि क्षेत्र मे रोजगार को सुरक्षित रखना चाहती है तो क्या वह कृषि सब्सिडी को एक बेहतरीन तरीका मानती है? ऐसे में अपना हित साधने वाले समूह उच्चाधिकार प्राप्त समुदाय से कैसे ज्यादा से ज्यादा फायदा उठाते हैं , यह भी एक सवाल है।

शिकागो स्कूल के विचारक गैरी बेकर ने शुद्ध अर्थशास्त्र के सिद्धांत को

सार्वजनिक चयन के नजरिए से देखा। उन्होंने इस सिद्धांत को नीतियों से संबंधित मुद्दों पर लागू किया। इसके तहत उन्होंने अपराध, शिक्षा, परिवार, अप्रवासियों और परहितवाद जैसे मुद्दों को अर्थिक नजरिए से समझने की कोशिश की, उनके इस अध्ययन में कई महत्वपूर्ण और चौकाने वाले परिणाम सामने आए।

सामान्य तौर पर इ मुद्दे पर शिकागो स्कूल का निष्कर्ष और वर्जीनिया स्कूल के निष्कर्ष में बहुत अधिक अंतर नहीं है। हालांकि शिकागो स्कूल के प्रमुख विचारकों के ऊपर आत्म केंद्रित होने का आरोप लगाना काफी कठिन है। इसके बावजूद उन पर वैज्ञानिक तरीकों से विचारधारा को नकारने का का प्रयास करने का भी आरोप लगाया गया। हालांकि अगर शिकागो स्कूल की आलोचना की जाए तो यह कहा जा सकता है कि विभिन्न जन इच्छा सिद्धांत के स्कूलों में माना गया है कि हित साधने के लिए समूहों का आसानी से गठबंधन बनाना, मुफ्त में लाभ लेने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना या फिर अपने हित साधने वाले समूहों से कुशलता से काम कराना, जैसे गुण किसी सरकार में होना बहुत ही दुर्लभ है। ऐसे में ये स्कूल अर्थशास्त्र की दोषरहित प्रतिस्पर्धा की बात करते है। लेकिन यह हम भी जानते हैं कि वास्तविक दुनिया में ऐसी दोषरहित व्यवस्था होना संभव नहीं है। लेकिन इन सिद्धांतों पर काम करके हम कुछ महत्वपूर्ण तथ्य की खोज कर सकते हैं। समस्या तब आती है जब लोग सिद्धांत की हकीकत से तुलना करने लगते हैं। उदाहरण के तौर पर अर्थशास्त्री वोट खरीदने या उसे बेचने को सैद्धांतिक रूप से उचित मानते हैं लेकिन यही बात हकीकत में आम लोगों को वोट के भ्रष्टाचार के रूप में दिखती है, जो उनके लिए बहुत चौंकाने वाला कदम होता है।

12. वर्तमान और भविष्य का रास्ता

सार्वजनिक चयन सिद्धांत की 'दूसरी पीढ़ी' ने 'पहली पीढ़ी' के विचारकों डंकन ब्लैक, एंथोनी डाउंस, मैंकर ऑल्सन, जेम्स एम.बुकानन, गॉर्डन टुलॉक और विलियम एच.राइकर द्वारा किए गए कामों का गहराई से निरीक्षण करने के लिये व्यापक मान्यताओं और राजनैतिक व्यवस्था के तहत उनका परीक्षण किया। नई पीढ़ी ने एक अहम अनुसंधान पर जोर दिया, जिसमें इस बात का परीक्षण किया गया कि कैसे वोटिंग के समय एक वोटर का विचार सामूहिक फैसले में बदल जाता है। जिस कारण सामूहिक फैसला होने के बावजूद भी वह एक व्यक्ति आधारित हो जाता है।

इसके अलावा उन उपायों को पता करने पर भी ध्यान केंद्रीत किया गया कि पूरी प्रक्रिया को रणनैतिक रूप से अक्षुण कैसे रखा जाए। दूसरे शब्दों में कहें तो वोटरों का समूह अपनी वास्तविक इच्छा के अनुसार वोट डाल सके, जिससे कि वोटिंग रणनीति पर आधारित न होकर समझदारी पर आधारित हो। अगर इन सवालों के जवाब ढूँढ़ लिए जाते हैं तो राजनीति विज्ञानी और राजनेताओं को वोटर के व्यवहार को परखने में मदद मिलेगी, जो यह नहीं पता लगा पाते हैं कि वोटर ने जिस उम्मीदवार या राजनीतिक दल को वोट डाला है, वह वास्तव में उसकी पसंद है या फिर किसी दूसरी परिस्थिति में उसने वोट डाला है। जो शायद उसकी पहली पसंद नहीं है।

एलन गिबार्ड और मार्क सैटर्थवेट ने अपने सिद्धांत में कहा है कि लोकतांत्रिक चुनाव में हमेशा रणनीति आधारित वोटिंग का रास्ता खुला रहता है। ऐसे में व्यक्ति आधारित वोटिंग प्रणाली हमेशा समस्या बनी रही है और यह जटिलता दो भेड़िये और एक भेड़ के उदाहरण जैसी हो जाती है। जिसमें यह कभी पता नहीं चल पाता है कि एक व्यक्ति वोटिंग के समय क्या सोच रहा है। ऐसे में सारा ध्यान इसी ओर चला गया है कि कैसे वोटर की असली सोच का पता

लगाया जाए। जिसे सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारक मांग आधारित प्रकटीकरण (डिमांड रिविलेशन) कहते हैं।

एडवर्ड एच. क्लार्क और थिओडोर ग्रोव्स ने वोटर की दिल की बात जानने के लिए सुझाव दिया कि वोटर पर प्रोत्साहिन कर (इनसेंटिव टैक्स) लगाया जाए। इस कर की गणना उसके द्वारा प्रभावित किए गए वोटरों की संख्या के आधार पर तय की जानी चाहिए। यानी जितना वोटर को वह वोट देने के लिए अपने विचार थोपेगा, उतना उसे प्रोत्साहन कर वसूला जाएगा। इससे भेड़ियों को भेड़ पर अपने विचारों को थोपने को लेकर जबवादेह बनने को मजबूर किया जा सकेगा। इसी तरह डेनिस सी म्युलर ने वोटर की प्राथमिकताओं को समझने के लिए तीन चरणों वाली वोटिंग प्रक्रिया का सुझाव दिया। म्युलर के अलावा दूसरे गणितीय और व्यवहारिक सुझाव भी दिए गए, जिसमें फ्रांस और अमेरिकी राष्ट्रपति चुनाव के लिए अपनाई जाने वाली कई चरणों की चुनाव प्रक्रिया भी शामिल है। इस पड़ताल में कई रोचक सवाल भी सामने आए हैं, मसलन वोटर कितनी तर्कसंगत सोच रखता है, क्या वोटिंग के समय वोटर पुराने अनुभवों को भी ध्यान में रखता है और क्या वोटर के पास सूचनाओं का अभाव होता है और वह दूरदृष्टि नहीं रखता है?

दूसरी तरफ सार्वजनिक चयन सिद्धांत ने 1980 के दशक में दो दलीय राजनीतिक व्यवस्था का सुझाव दिया है। इस पर पहली पीढ़ी के विचारकों का प्रमुख रुप से जोर रहा है। उनका कहना है कि सामूहिक रूप से लिये गए फैसलों से वोटर की जो पसंद सामने आती है, वह उम्मीद से कहीं ज्यादा बेहतर होती है। ऐसा इसलिए होता है कि बाजार, राजनीतिक दलों में बढ़ती प्रतिस्पर्धा की वजह से दलों, उम्मीदवारों को अपने अंदर बदलाव लाना पड़ता है। साथ ही उन्हें नीतिगत सुधार भी करने पड़ते हैं, जिससे कि वह ज्यादा से ज्यादा वोटरों को अपनी ओर आकर्षित कर सकें। लेकिन दुनिया की ज्यादातर राजनैतिक व्यवस्था में बहुदलीय व्यवस्था है। ऐसे में सरकार बनाने के लिए विभिन्न राजनीतिक दल गठबंधन का सहारा लेते हैं। ऐसे में दूसरी पीढ़ी के सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारकों का ध्यान रोचेस्टर स्कूल के नेतृत्व में इस चुनौती पर गया। जिसमें उन्होंने यह पता लगाने की कोशिश की कि सरकार बनाने के लिए अलग-अलग राजनीतिक दलों द्वारा बनाए गए गठबंधन कितने टिकाऊ होते हैं। इसी के जरिए

विलियम एच. राइकर ने जीत के लिए न्यूनतम गठबंधन का विचार पेश किया। और इसी कड़ी में यह बात सामने आई कि गठबंधन के लिए एक बड़े राजनीतिक दल का केंद्र में होना भी जरूरी है। यही नहीं कई बार औपचारिक गठबंधन करने की जगह अल्पमत वाली सरकार भी चलाई जाती है, जिसमें विभिन्न मुद्दों पर समय-समय पर छोटे दलों से समर्थन हासिल कर लिया जाता है।

इस विषय में सबसे ताजा अध्ययन रोजर कांगलेटन द्वारा अपनी पुस्तक "परफेक्टिंग पार्लियामेंट" में किया गया है। इसमें छह प्रमुख देशों की विधायिकाओं का अध्ययन किया गय है। उन्होंने आत्मकेंद्रित, सामाजिक विचार, धर्म, राज्य की संस्थाओं, सत्ता और उनके संबंध की व्याख्या की है जिसके जरिए चुनाव और विधायिका के कानून बनाने में मदद मिली। कुल मिलाकर बुकानन और ट्यूलॉक ने बताया कि ज्यादातर देश अभी संविधान के स्तर पर तर्कसंगत व्यवस्था से काफी दूर थे।

पुराने विचारों का दोबारा अध्ययन

सार्वजनिक चयन सिद्धांत को बहुदलीय राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन का भी मौका मिला। दूसरी पीढ़ी के जन इच्छा विचारकों ने अपने अध्ययन में कुछ मूल सिद्धांतों का दोबारा अध्ययन किया। कई बार तो यह अध्ययन उन सिद्धांतों के अस्तित्व को खत्म करने तक पहुंच गया।

इसी तरह मीडियन वोटर संकल्पना का जब व्यवहारिक रुप से अध्ययन किया गया तो उस पर भी सवाल उठे। उदाहरण के तौर पर, राजनीतिक दल चुनाव के पहले अपनी विचारधारा को एक विचार की ओर केंद्रित करने की जगह केंद्र में लाने की कोशिश करते हैं। लेकिन राजनीतिक दल यह दिखाने की कोशिश करने के बावजूद केंद्र में मौजूद वोटर का भरोसा जीतने के लिए, बेसब्री नहीं दिखाते हैं। वह इसलिए ऐसा नहीं करते हैं क्योंकि राजनीतिक दल एक खास विचारधारा से वर्षों से जुड़े रहते हैं। वह ऐसा कोई कदम नहीं उठाते हैं, जिससे उसके समर्थकों को लगे कि राजनीतिक दल अपनी विचारधारा पर कमजोर पड़ रहा है। अगर वोटर को ऐसा लगता है तो वह उससे दूर हो जाता है, यही नहीं उन्हें लगता है कि राजनीतिक दल सत्ता के लिए अपनी विचारधारा से समझौता कर रहा है। यही नहीं बहुदलीय राजनीतिक व्यवस्था में मीडियन वोटर का सिद्धांत

अपनी महत्ता कुछ हद तक खोने लगता है। क्योंकि बहुदलीय राजनीति काफी जटिल, एक-दूसरे से जुड़े हुए मुद्दे, दो सदनों वाली विधायिका और अलग-अलग विचारों वाले बड़ी संख्या में वोटर से प्रभावित होती है। ऐसे में जब, जन इच्छा विचारक साधारण मीडियन सिद्धांत को जटिल राजनीतिक व्यवस्था पर लागू करते हैं, तो वह अपनी महत्ता खोने लगता है।

मीडियन वोटर जैसे साधारण सिद्धांत ने भी बहुदलीय राजनीति, जटिल व एक दूसरे से जुड़े मुद्दों, दो सदनों वाली विधायिका और अधिक व भिन्नता वाले वोटरों वाले संदर्भ में अपने महत्व को थोड़ा खो दिया। जैसे ही सार्वजनिक चयन का सिद्धांत अपने आप को विस्तृत राजनैतिक व्यवस्था पर लागू कराता है, वह मुख्यधारा की अपनी प्रासंगिकता को थोड़ा और खो देता है।

एक अन्य विचार जिस पर पुनर्विचार किया गया है वह है 'फ्री राइडर' यानी कि मुफ्त में लाभ प्राप्त करने की प्रवृत्ति वाला सिद्धांत जो सार्वजनिक हित के आवश्यक प्रावधानों के औचित्य को सिद्ध करने में प्रयुक्त होता है। सार्वजनिक चयन सिद्धांत के हालिया अध्ययन में यह बात सामने आई है कि भले ही लोगों को मुफ्त में सार्वजनिक फायदे मिल जाते हैं, लेकिन यह फायदा उम्मीद से बहुत कम होता है। शायद ऐसा इसलिए होता है क्योंकि मानव कहीं ज्यादा सामाजिक व एक-दूसरे का सहयोग करने वाला होता है। ऐसे में हमें किसी भी निष्कर्ष पर पहुंचने से पहले उसकी इस खासियत का ध्यान रखना होगा। यह निष्कर्ष जन इच्छा विचारकों द्वारा शुरू में दिए गए व्यक्तिवाद और आत्मकेंद्रित सोच को भी चुनौती देता है।

दूसरी पीढ़ी के विमर्श

सार्वजनिक चयन सिद्धांत के दूसरी पीढ़ी के विचारकों में विलियम ए निसकानेन, जॉर्ज जे स्टिगलर काफी चर्चित हैं। इसके अलावा डेनिस सी म्युलर ने प्रभावशाली राजनेताओं और नौकरशाहों की भूमिका को भी समझने की कोशिश की है। उनके अनुसार ये प्रभावशाली लोग, सत्ता में अपनी पहुंच का फायदा उठाते हुए, अपना एजेंडा चलाते हैं। जिससे उनकी सत्ता में स्थिति और मजबूत हो जाती है। यह फायदा उन्हें आम जनता के हितों की अनदेखी और उनके खर्च पर मिलता है। यह ठीक उसी तरह है, जैसे कॉरपोरेट मैनेजर

शेयरधारकों के हितों की अनदेखी कर अपने फायदे लेते हैं। पहली पीढ़ी द्वारा खींची गई निराशा की तस्वीर को भी दूसरी पीढ़ी के विचारकों ने चुनौती दी है।

उदाहरण के लिए निसकानेन का मानना था कि नौकरशाहों पर अंकुश नहीं लगाया जा सकता है। उसे नई पीढ़ी के विचारकों ने चुनौती दी, उनके अनुसार सांसदों और विधायकों की समिति ने कई बार यह साबित किया है कि उन्हें एजेंसियों के बारे में कहीं बेहतर जानकारी होती है। ऐसे में वह नौकरशाहों पर अंकुश लगाने के लिए पर्याप्त तरीके भी बताते हैं।

इसी तरह स्टिगलर ने नियामक एजेंसियों पर अपना हित साधने वाले समूहों के प्रभाव के बारे में बताया तो उसका भी नई पीढ़ी के विचारकों ने पुरजोर विरोध किया है। स्टिगलर के शिकागो स्कूल के तीसरी पीढ़ी के साथी गैरी एस. बेकर ने उन पर सवाल उठाते हुए कहा कि बिखरे समूह के पास वोटिंग की ताकत कहीं ज्यादा होती है। उनके अनुसार स्टिगलर और संभवतः ऑल्सन बिखरे समूह को जितना कमजोर समझते हैं, हकीकत में वह इतना कमजोर नहीं होता है। इस बीच शिकागो स्कूल के छात्र रहे अर्थशास्त्री जेम्स क्यू विल्सन का कहना है सीमित लोगों तक लाभ पहुंचने और बड़ी संख्या में बिखरे समूह के कारण नियामक संस्थाओं को सत्ता पर प्रभुत्व जमाने का मौका मिल जाता है। हालांकि केवल एक विशेष मामला, सैद्धांतिक रूप से कई दूसरी संभावनाएं भी खड़े कर सकता है। जो कि सैद्धांतिक रुप से सही भी हो सकती हैं लेकिन संस्थागत स्तर पर कई परेशानियां भी खड़ी करती है।

दूसरी पीढ़ी के एक और विचारक विंसेंट ऑस्ट्रॉम ने भी सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारकों की निराशावादी रवैये पर सवाल उठाते हुए कहा कि कैसे सामूहिक फैसले को विभिन्न केंद्रों में बांटकर बेहतर किया जा सकता है। इसके जरिए बाजार में समान प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा मिलेगा और एकाधिकार वाली व्यवस्था से बेहतर परिणाम मिलेंगे। ऑस्ट्रॉम का कहना है कि जब फैसले लेने के दायरे में विस्तार होता है, तो वह सामूहिक फैसले की गुणवत्ता और स्थायित्व में भी बढ़ोतरी करता है। और इसके बेहतर परिणाम विविधता वाले जनसंख्या में कहीं ज्यादा अच्छे तरह से दिखते हैं।

तीसरी पीढ़ी के विचारक

शिकागो स्कूल के गैरी एस. बेकर और उनके साथियों ने राजनीति में अर्थशास्त्र की भूमिका को और विस्तार पूर्वक समझने की कोशिश की है। उनके अनुसार राजनीति एक बाजार की तरह है। जहां विभिन्न राजनैतिक मांगें, बाजार में मौजूद उत्पाद और सेवाओं के रूप में होती हैं। वर्जीनिया स्कूल के विचारक चार्ल्स के राउले का सबसे अहम काम सरकार को एक कंपनी के नजरिए से देखना रहा है। उनका कहना है कि सरकार की कई संस्थाएं कारोबार के लिहाज से सक्षम लगती हैं लेकिन राजनीतिक रुप से वह असफल नजर आती हैं। मसलन संयुक्त राज्य अमेरिका में लाया गया टार्ट कानून (लंबे अवधि के लिए व्यापार पर लगाए प्रतिबंध) इस व्यवस्था के बेहतरीन उदाहरण हैं।

इसी तरह ब्रूनो एस. फ्रे का कहना है कि राजनीतिक जीवन को आर्थिक पहलुओं से देखने के अलावा भी कई और कारक हैं, जिसमें लोगों के गैर वित्तीय हित जुड़े हुए होते हैं। मसलन किसी व्यक्ति का आत्मसम्मान भी बहुत महत्वपूर्ण होता है। वास्तव में बैरी वीनगैस्ट ने तो शिकागो स्कूल के दृष्टिकोण को पूरी तरह से उलट दिया है। उन्होंने बताया कि कैसे राजनीतिक स्तर पर लिए गए फैसले बाजार की मूल प्रकृति को ही बदल देते हैं। तीसरी पीढ़ी के विचारकों के नए नजरिए ने जन इच्छा को एक नई ऊंचाई पर पहुंचाया है। उदाहरण के लिए रॉबर्ट डी टॉलीसन ने बताया है कि कैसे मध्यकालीन समय में संसद के बढ़ते प्रभाव ने एकाधिकार वाले बाजार को कमजोर किया। क्योंकि संसद के गठन के बाद सांसदों को किसी प्रस्ताव को पारित करने के लिए बहुमत की जरूरत पड़ने लगी। जबकि ऐसा करने के लिए केवल राजा की आज्ञा पर्याप्त हुआ करती थी। यह बदलाव आज के दौर के संस्थानों के लिए भी एक सबक है।

खेल का सिद्धांत

सार्वजनिक चयन के आधुनिक सिद्धांत के सबसे अहम योगदानों में से एक खेल का सिद्धांत (गेम थ्योरी) है। जिसे विकासात्मक खेल सिद्धांत के रूप में भी जाना जाता है। जब किसी व्यक्ति की पसंद, दूसरों की प्रतिक्रिया पर निर्भर हो जाती है, तो उन परिस्थितियों में व्यक्ति कैसा व्यवहार करता है, उसका विश्लेषण खेल के सिद्धांत से समझा जा सकता है। इसे समझने के लिए कैदियों के व्यवहार का

अध्ययन सबसे बेहतरीन उदाहरण है। दो कैदी इस दुविधा में गुनाह कबूल कर लेते हैं कि अगर वह गुनाह कबूल नहीं करते हैं तो और सख्त दंड मिलेगा। अगर वे चुप रहते हैं तो दूसरे के द्वारा सारा दोष उनके उपर डाल कर फंसा दिया जाएगा जिसका असर और भी बुरा होगा।

वोट करते समय इसी तरह की दुविधा वोटर के सामने रहती है। खास तौर पर उन वोटर के साथ यह दुविधा कहीं ज्यादा होती है, जो दूसरों को देखकर वोट डालते हैं। इसके तहत उनकी कोशिश होती है कि वह या तो अपने पसंद के उम्मीदवार को चुनाव में जिता दें या फिर दूसरे उम्मीदवार को हराने में अहम भूमिका निभा सके। इन उदाहरणों के विश्लेषण से हम लोगों की इच्छा को समझ सकते हैं, जिसके जरिए एक ऐसी व्यवस्था बना सकते हैं, जिसमें हम लोगों की वास्तविक इच्छा को समझ सकेंगे। जिसे अपना हित साधने वाले कुछ संगठित लोग प्रभावित नहीं कर पाएंगे।

खेल के सिद्धांत का एक और अत्यंत रोचक प्रयोग भी है। रोचेस्टर स्कूल में प्रशिक्षित और विलियम एच. राइकर के सह-लेखक पीटर ऑर्डशुक ने खेल के सिद्धांत के जरिए चुनाव में होने वाली धांधली से लोगों को अवगत कराया। इसे समझाने के लिए उन्होंने पूर्व सोवियत गुट की लोकतांत्रिक प्रणाली का अध्ययन किया। चुनाव में खेल सिद्धांत को लागू करने के लिए अर्थशास्त्रियों ने सैद्धांतिक नजरिए की जगह व्यवहारिक रूप से इसे समझने की कोशिश की। उन्होंने यह समझने की कोशिश की कि चुनाव और राजनीति में जब लोगों के सामने विकल्प चुनने का वक्त आता है, तो वह उस समय कैसा व्यवहार करते हैं? इसके लिए नोबेल पुरस्कार विजेता वेरनॉन स्मिथ ने एक प्रयोग किया, उन्होंने देखा कि जब लोगों के सामने चयन के लिए चुनाव में बार-बार एक ही विकल्प आता है तो वह क्या करते हैं? इस स्थिति में व्यक्ति या समूह यह देखते हैं, दूसरे लोग वोट के समय कैसा व्यवहार करते हैं। उन्होंने पाया कि प्रयोग में शामिल वालंटियर छात्र एक स्थिति के बाद समझौते की स्थिति में आ जाते हैं। ऐसा करने से बिना किसी का बुरा किये सभी बेहतर स्थिति में पहुंच गए। इस स्थिति को 'परेटो ऑप्टिमैलिटी' यानी श्रेष्ठतम स्थिति कहते हैं जिसका सपना अर्थशास्त्री और राजनेता देखते हैं। इस परिणाम से यह लगता है कि चुनाव प्रणाली में कुछ ऐसी खासियत होती है जो कि बार-बार होने वाली वोटिंग से प्रभावित होती है। यह प्रयोग यह भी बताता

है कि एक ऐसी स्थिति भी आ सकती है, जब विकल्प चुनने पर आम सहमति बन जाए। वर्जीनिया स्कूल को अपने इस योगदान पर निश्चित तौर पर गर्व करना चाहिए।

भविष्य की संभावनाएं

दुनिया भर में जिस तरह से अलग-अलग तरह की प्रवृत्ति वाले लोकतंत्र का उद्भव और विकास हो रहा है, उसने सार्वजनिक चयन के सिद्धांत को इन देशों में अध्ययन का मौका दिया है। जिन्हें समझकर वह अपने देश के संविधान, विधायिका और चुनाव प्रणाली का निर्माण कर सकते हैं। इस प्रणाली में सार्वजनिक चयन सिद्धांत के विचारकों को भी अपने संस्थापकों के परंपरागत नजरिए से भी बाहर निकलने की जरूरत है। क्योंकि उनका अध्ययन अमेरिका और यूनाइटेड किंगडम की दो दलों वाली बहुमत प्रणाली तक ही सीमित रहा है। ऐसा इसलिए भी हुआ क्योंकि वह इन लोकतांत्रिक प्रणालियों से सीधे जुड़े हुए थे।

अब नई पीढ़ी को इन देशों के अलावा दूसरी लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के अध्ययन पर जोर देना चाहिए। साथ ही स्थापित हो चुकी लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं को जन इच्छा सिद्धांत से सीख लेनी चाहिए। आज विधायकों, सांसदों और नौकरशाहों के निजी हित के साथ ही उन पर कैसे अंकुश लगाया जाए, उसको समझने की जरूरत है। इस तरह की नीतियां आज सबसे ज्यादा प्रचलित हैं। जैसे कि सरकारी एजेंसियों और उनके कार्यक्रमों के कार्य अवधि की सीमा तय करना, निजीकरण, नियमन, कर व्यवस्था का सरलीकरण, सरकार की संस्थाओं में प्रतिस्पर्धा बढ़ाना, बाजार को आम जन के नजरिए से देखना, सरकार द्वारा कर्ज लिये जाने की प्रवृत्ति पर संविधान के जरिए अंकुश लगाने जैसे कदम जन इच्छा सिद्धांत के ही परिणाम हैं। इसके अलावा जन इच्छा विचारकों ने संयुक्त राज्य अमेरिका और यूनाइटेड किंगडम के दायरे से बाहर निकलकर आनुपातिक प्रतिनिधित्व और बहुदलीय राजनीतिक व्यवस्था को भी समझने की कोशिश की है। इसके अलावा विभिन्न विधायिकाओं के काम-काज के तरीके, अलग-अलग संसदीय नियम, किसी भी राजनीतिक दल और उसके शीर्ष नेतृत्व की एजेंडा तय करने में उनकी भूमिका और दूसरे मुद्दों के प्रभाव को समझने में भी मदद मिलती

है। मोटे तौर पर निष्कर्ष यही है कि सामूहिक फैसलों में राजनीतिक संस्थाओं का गठन बहुत महत्व रखता है। लेकिन अभी आदर्श स्थिति नहीं बन पाई है। लेकिन तसल्ली की बात यह है कि अब हम कम से कम यह जानते हैं कि वास्तविक दुनिया कैसी है।

शब्दकोष

एजेंडा सेट करने वाला

व्यक्ति अथवा किसी कमेटी का अध्यक्ष जो रॉक, पेपर, सीज़र के चक्रीय विरोधाभास का दोहन कर यह तय करता है कि वोट किस क्रम में लिये जाएंगे।

शिकागो स्कूल

सार्वजनिक चयन सिद्धांत की एक प्रमुख शाखा जिसका नेतृत्व विचारक जॉर्ज जे स्टिगलर और गैरी बेकर करते हैं। यह शाखा राजनीतिक 'बाजार की कार्यप्रणाली' पर आर्थिक सिद्धांत को लागू करने पर ध्यान केंद्रीत करती है।

चक्रीय

इसकी संकल्पना कॉन्डरसेट ने दी थी। उन्होंने रॉक, सीजर और पेपर खेल के जरिए यह समझाया कि चुनाव में होने वाली वोटिंग नियमों के आधार पर कोई भी जीत सकता है और कोई विजेता ऐसा नहीं होता है जो सबको हरा सके।

मांग उद्घाटित करने वाली समस्या

ज्यादातर वोटिंग प्रणाली इस बात का मापन नहीं करती है कि वोटर किसी विकल्प विशेष अथवा पेशकश को लेकर क्या महसूस करता है। कई बार वोटर रणनैतिक आधार पर पर वोटिंग करते हैं। ऐसे में यह पता नहीं चल पाता है कि वोटर ईमानदारी से वोट डालता है या फिर किसी रणनीति के आधार पर उसने वोट डाला है। अतः वोटिंग प्रक्रिया का परिणाम लोगों के वास्तविक विश्वास और प्राथमिकताओं को प्रदर्शित नहीं करता है।

मुफ्त में फायदा लेने (फ्री राइडर) वाली समस्या

ऐसी स्थिति, जिसमें किसी व्यक्ति को लागत में सहयोग न करने के बावजूद सार्वजनिक वस्तुओं के उपयोग से वंचित न किया जा सके जैसे कि पार्क के इस्तेमाल या राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़े मामले। इस कारण ऐसी सेवाओं के अपर्याप्त होने या अनुपलब्ध होने की संभावना बढ़ जाती है।

खेल का सिद्धांत

राजनीतिक परिस्थिति में गणितीय मॉडल को अपनाने की प्रक्रिया खेल के सिद्धांत से समझी जाती है। इस सिद्धांत के अनुसार किसी व्यक्ति का व्यवहार दूसरे व्यक्ति के व्यवहार को देखकर या उसके आंकलन के आधार पर तय होता है।

सरकार की असफलता

ऐसी स्थिति जब सरकार के हस्तक्षेप के कारण संसाधनों का आवंटन कम हो जाता है। जबकि सरकार के हस्तक्षेप के बगैर आवंटन सुचारु रूप से हो रहा था।

असंभवता का सिद्धांत

केनेथ जे. एरो के मुताबिक जब वोटर के पास दो से ज्यादा विकल्प चयन के लिए हो जाते हैं, तो ऐसी स्थिति में किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में ऐसे सामूहिक फैसले नहीं हो पाते हैं जिसमें प्रवृत्ति, प्रासंगिकता और व्यक्तिगत प्राथमिकताओं का बल प्रदर्शित हो सके।

लॉगरोलिंग

निजी हित के लिए वोटों की खरीद फरोख्त। लॉगरोलिंग दो प्रकार की होती है। एक, अंतर्निहित (एक्सप्लिसिट) लॉगरोलिंग यानी 'तुम मेरे मुद्दे पर वोट करो, मैं तुम्हारे मुद्दे का समर्थन करुंगा' व दूसरा प्रत्यक्ष (इम्प्लिसिट) लॉगरोलिंग जिसमें वोटरों के सामने पूर्व निर्धारित संरचना वाले उपायों का पैकेज प्रस्तुत किया जाता है जिससे कि दूसरे समूहों का समर्थन भी हासिल किया जा सके।

मीडियन वोटर का सिद्धांत

डंकन ब्लैक की संकल्पना के अनुसार राजनीतिक दल ऐसे मुद्दों पर लचीला रूख अपनाते हैं, जिससे केंद्र में बैठे वोटर को लुभाया जा सके। इन स्थितियों में वोटर के पास चयन का विकल्प सीमित हो जाता है। हाल के अध्ययनों में इस सिद्धांत की प्रभावशीलता पर प्रश्नचिन्ह खड़े किये गये हैं।

जीत के लिए न्यूनतम गठबंधन

विलियम एच राइकर के अनुसार बड़े गठबंधन टिकाऊ नहीं होते हैं। ऐसे में अपने हित साधने वाले समूह ऐसे छोटे गठबंधन बनाते हैं, जिससे सरकार को बहुमत मिल जाए और उनके हित भी पूरे होते रहे।

कैदियों की दुविधा

खेल सिद्धांत की संकल्पना को कैदियों के उदाहरण से बताया गया है। उसके अनुसार कैसे दोनों कैदी कम सजा की उम्मीद में अपने गुनाह कबूल कर लेते हैं। क्योंकि उन्हें लगता है कि अगर दूसरे ने मूंह खोल दिया और उसे फंसा दिया तो उन्हें और अधिक कड़ी सजा मिलेगी। हालांकि दोनों के चुप रहने पर दोनों सजा से बच सकते हैं लेकिन प्रायः दोनों अपराध को स्वीकार कर लेते हैं और दूसरे को फंसा देते हैं।

सार्वजनिक वस्तुएं और सेवाएं

इसका बेहतरीन उदाहरण राष्ट्रीय पार्क और राष्ट्रीय सुरक्षा जैसी सुविधाएं हैं। इनका फायदा बहुत सारे लोग एक साथ उठाते हैं लेकिन इन सुविधाओं का लाभ उठाने से किसी को वंचित नहीं किया जा सकता है। फ्री राइडर यानी मुफ्त में सेवा हासिल करने की प्रवृत्ति के कारण इन सुविधाओं के प्रायः अपर्याप्त होने की संभावना रहती है

तार्किक अनदेखी

एंथोनी डाउन्स के अनुसार वोटर को कई बार लगता है कि जो नीतियां बनाई जा रही है, उसका उसे कोई फायदा नहीं मिलने वाला है। चूंकि उसके एक वोट से

स्थितियां बदल नहीं सकती हैं इसलिए वह उम्मीदवार, पार्टी और उसकी नीतियों को समझने में कोई प्रयास नहीं करता है। इस स्थिति में वोटर जानबूझ वोट नहीं डालता है।

ज्यादा फायदा लेने की सोच

अर्थशास्त्र में ऐसी मान्यता है कि व्यक्ति अपनी अधिकतम संतुष्टि के लिए प्रयास करता है। इसका मतलब यह नहीं है कि वह लालची और आत्मकेंद्रित है। उसके निजी हित उसकी जीवन को समृद्ध बनाने, परिवार, दोस्तों को फायदा पहुंचाने में काम आते हैं। जिसका विस्तार जन हित के रूप में भी हो सकता है।

रेंट सीकिंग

गॉर्डन टुलॉक ने रेंट सीकिंग का विचार दिया है। उनका कहना है कि निजी हित साधने वाले समूह चुनावों में बड़ी मात्रा में धन, समय और प्रयास लगाकर किसी एक दल को विजयी बनाने की पुरजोर कोशिश करते हैं। उन्हें पता होता है कि उनके समर्थक दल की सरकार बनने पर उन्हें बड़ा फायदा प्राप्त हो सकता है।

रोचेस्टर स्कूल

जन इच्छा स्कूल की यह एक शाखा है। जिसके सबसे अहम विचारक विलिमय एच.राइकर हैं। उन्होंने जन इच्छा को समझने के लिए आंकड़ा आधारित विश्लेषण, खेल सिद्धांत और प्रयोगात्मक सिद्धांत के जरिए राजनीति प्रक्रिया को समझने की कोशिश की है।

रणनीतिक वोटिंग

इस तरह की वोटिंग में परिणामों से यह पता नहीं चलता है कि जीता हुआ उम्मीदवार वोटर की वास्तविक पसंद है। यानी वोटर परिस्थितियों के अनुसार वोटिंग करता है।

समय को टालना

इसके तहत वोटर मौजूदा फायदे के लिए वोटिंग करता है। जैसे पेंशन राशि में

बढ़ोतरी और नई सड़क के लिए ज्यादा कर्ज लेने आदि के फैसले का वह समर्थन करता है। लेकिन इन फैसलों से कर का बोझ भविष्य के करदाताओं पर पड़ता है।

वर्जीनिया स्कूल

जेम्स बुकानन और गार्डन ट्यूलॉक इस स्कूल के सबसे बड़े विचारक हैं। जिन्होंने मौजूदा राजनीतिक संस्थाओं को समझने के लिए राजनीतिक सिद्धांतों को लागू किया। इस स्कूल का सबसे अहम सिद्धांत यह है कि किस तरह संवैधानिक व्यवस्था के जरिए अल्पमत समूह का शोषण रोका जा सकता है।

वोट का महत्व

गार्डन ट्यूलॉक ने 1975 में आईईए के पेपर में "प्रॉफिट मोटिव" पर लेख लिखा था। उन्होंने बताया कि कैसे राजनीतिक व्यवस्था में प्रॉफिट मोटिव वोट के फैसले तय करती है।

सार्वजनिक चयन सिद्धांत की समयावधि

1781 फ्रांस के काउंट चार्ल्स डी बोरडा ने साधारण बहुमत के नियम पर सवाल खड़े किए और उम्मीदवारों की रैंकिंग का मॉडल पेश किया। जिसमें वोटिंग के समय वोटर को उम्मीदवार की रैंकिंग करने का मौका मिलता है।

1785 में द मार्कस जी कॉनडरसेट ने बोरडा के उस प्रस्ताव की आलोचना की जिसमें बताया गया है कि वोटर आत्मकेंद्रित समूह से प्रभावित रहता है। उन्होंने उदाहरणों से समझाया कि बहुमत आधारित वोटिंग अस्थायी परिणाम देती है। उनके ज्यूरी सिद्धांत ने भीड़ की चतुराई के फैसले की व्याख्या की।

1876 गणितज्ञ चार्ल्स डॉगसन (लेविस कैरल नाम से लोकप्रिय) ने फ्रांस के उदाहरण से जटिल वोटिंग प्रणाली का प्रस्ताव दिया। उन्होंने इस प्रणाली के जरिए कॉन्डरसेट के विरोधाभासी वोटिंग प्रणाली को न केवल खारिज किया, बल्कि यह भी बताया कि जटिल वोटिंग प्रणाली से सटीक और लोकप्रिय परिणाम भी सामने आते हैं।

1896 नट विकशेल ने अपने लेख "ए न्यू प्रिंसिपल ऑफ जस्ट टैक्सेशन" में सामूहिक फैसले का समर्थन करते हुए बताया कि केवल आम सहमति से की गई वोटिंग से कर का न्यायपूर्ण वितरण हो सकता है और अल्पसंख्यकों का शोषण रोका जा सकता है।

1948 डंकन ब्लैक ने बोरडा और कॉन्डरसेट के विचारों का दोबारा अध्ययन किया और उनका विस्तार करते हुए उसे आधुनिक बनाया। उन्होंने

मीडियन वोटर का सिद्धांत दिया। ब्लैक का कहना था कि राजनीतिक दल चुनाव जीतने के लिए ऐसे वोटर को लुभाने की कोशिश करते हैं, जो केंद्र (एक विचारधारा के कट्टर समर्थक नहीं होते हैं) में होते हैं। ब्लैक को आधुनिक जन इच्छा अर्थशास्त्र का संस्थापक माना जाता है।

1950 केनेथ एरो ने बताया कि कोई भी ऐसी व्यवहारिक और आदर्श वोटिंग प्रणाली नहीं है, जो कॉन्डरसेट के विरोधाभासी वोटर के सिद्धांत को खारिज कर सके।

1957 एंथोनी डाउन्स ने वोटिंग के अर्थशास्त्र को प्रतिपादित करते हुए ब्लैक के राजनीतिक दलों द्वारा केंद्र (किसी के भी कट्टर समर्थक नहीं) में मौजूद वोटर को लुभाने के सिद्धांत का समर्थन किया। साथ ही उन्होंने अपने हित साधने के लिए बने गठबंधन और राजनीतिक मुद्दों पर वोटर की जानबूझ कर की गई अनदेखी के पहलुओं को भी लोगों के सामने रखा।

1962 जेम्स बुकानन और गॉर्डन ट्यूलॉक ने अपनी पुस्तक "द कैलकुलस ऑफ कंसेन्ट" में राजनीति विज्ञान के सभी क्षेत्रों में अपना हित साधने वाले लोगों के विचार को लागू किया। उन्होंने बताया कि आम सहमति बनाने में मुश्किलों को देखते हुए भी राजनीतिक व्यवस्था में बहुमत का नियम बनाया गया। साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि कैसे बहुमत की व्यवस्था में अल्पमत समूह का शोषण होता है। उनके अनुसार इसे रोकने के लिए संविधान के स्तर पर आम सहमति और दूसरी प्रशासनिक व्यवस्थाओं के लिए वोटिंग के दूसरे नियम बनाए जाने चाहिए। दोनों ने इसके अलावा वोट के सौदे (लॉगरोलिंग) की भी व्याख्या की, जिसमें उन्होंने बताया कि कैसे अपना हित साधने वाले समूह एक-दूसरे वोट के जरिए समर्थन करते हैं। और इसके जरिए सरकार की निरंकुशता बढ़ जाती है।

1962 विलियम एच. राइकर ने चुनाव में गठबंधन के महत्व को समझाया। साथ ही यह भी बताया कि कैसे कुछ गठबंधन बनाकर सफल होते हैं, वहीं कुछ उतनी सफलता हासिल नहीं कर पाते हैं। राइकर ने राजनीतिक प्रक्रिया में शुरूआती तौर पर खेल के सिद्धांत का इस्तेमाल किया।

1965 मैनकर ऑल्सन ने अर्थशास्त्रियों के तार्किक विकल्प के सिद्धांत को राजनीति में लागू किया। उन्होंने बताया कि कैसे अपना हित साधने वाले

छोटे समूह, चुनाव को बाहर से प्रभावित करते हैं। जबकि बड़े समूह ऐसा प्रभाव नहीं डाल पाते हैं।

1965 बुकानन और टुलॉक ने सार्वजनिक चयन सिद्धांत सोसायटी का गठन किया। जिसका उद्देश्य सार्वजनिक चयन सिद्धांत पर चर्चा करना और उसका विस्तार करना था। उसके बाद से न केवल यह सोसायटी तेजी से बढ़ी है, बल्कि दुनिया में उसने अपना सिक्का भी मनवाया है। सोसायटी के तीन अध्यक्ष बुकानन, वरनॉन स्मिथ और एलीनॉर ऑस्ट्रॉम को अर्थशास्त्र के क्षेत्र में दिए गए योगदान के लिए नोबल पुरस्कार से सम्मानित भी किया गया।

1966 ट्यूलॉक ने सार्वजनिक चयन नामक एक जर्नल का भी प्रकाशन शुरू किया।

1967 ट्यूलॉक ने बताया कि कैसे राजनीति में एकाधिकार को बढ़ावा मिलता है। जिसके लिए अपना हित साधने के लिए समूह अभियान चलाते हैं। बाद में इस व्यवहार को एनी क्रूएगर ने रेंट सीकिंग (आर्थिक सब्सिडी या फायदा) का नाम दिया।

1971 विलियम ए. निसकानेन ने बताया कि नौकरशाह क्यों अपना हित साधने के लिए बजट का आकार बढ़ाते हैं। जिससे उन्हें खर्च करने के लिए ज्यादा से ज्यादा राशि मिल सके। साथ ही वह यह भी बताते हैं, कि नौकरशाहों की यह कवायद कैसे फैसले लेने की प्रक्रिया और सरकार के आकार पर असर डालते हैं।

1971-1973 एडवर्ड एच. क्लार्क ने 1971 में बताया कि आमजन उन सार्वजनिक लाभ के कार्यों के लिए वोट देने में ईमानदारी नहीं बरतते हैं जिनकी लागत दूसरों पर थोपी जा सकती है। एडवर्ड एच. क्लार्क (1971) और थिओडोर ग्रोव्स (1973) ने बताया कि कैसे बहुमत समूह अल्पमत समूह पर अपनी इच्छा थोपता है। इसे वह वोटर की वास्तविक सोच बताकर बहुमत समूह फायदा उठाते हैं।

1979 वरनॉन एल. स्मिथ ने वोटिंग व्यवस्था में कई सारे प्रयोग कर आम सहमति

की संभावना को तलाशा है। साल 2002 में उन्हें अर्थशास्त्र में दिए गए योगदान के लिए नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

1980 कई सारे आर्थिक लेखों में यह बात सामने आई कि दो दल वाले राजनीतिक व्यवस्था में आम जन की वास्तविक सोच सामने आती है। जबकि कुछ लोगों को लगता है कि राजनीति में कोई अदृश्य हाथ भी काम करता है।

1986 जेम्स बुकानन को संविधान के आधार पर आर्थिक और राजनीतिक फैसले लेने की प्रक्रिया पर किए गए काम पर नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

1987 नॉर्मन फ्रोलिच, जो ए ओपेनहाइमर और चेरिल एल. ई वे ने इस बात कि विवेचना की कि किस प्रकार संविधान के जरिए कैसे आम सहमति तैयार की जा सकती है। इसके लिए उन्होंने छात्रों पर किये गए प्रयोग के जरिए यह बताया कि छात्र उन्हें वोट करते है जो सामाजिक हित के कार्यों को न्यूनतम और औसत आय को अधिकतम किए जाने को तरजीह देते हैं। जबकि इसके उलट जॉन रॉल्स ने बताया कि लोग ज्यादा आय को तरजीह देते हैं।

1990 पीटर वैन रूजेनडाल ने बताया कैसे एक उदारवादी राजनीतिक दल (केंद्रीय विचारधारा वाला राजनीतिक दल) दक्षिणपंथी और वामपंथी विचारधारा वाले राजनीतिक दलों के समर्थन से अल्पमत वाली सरकार बना लेता है।

2000 सार्वजनिक चयन सिद्धांत का दुनिया के कई देशों में प्रसार हुआ। इस दौरान राजनीति में कई सारे गणितीय मॉडल और प्रयोग किए गए।

2002 वरनान एल. स्मिथ को आर्थिक विज्ञान में उनके द्वारा किए गए प्रयोग, जिसमें सामूहिक चयन भी शामिल है, के लिए नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

2007 ब्रॉयन कैप्लान की पुस्तक "द मिथ ऑफ द नेशनल वोटर आर्ग्यू" में बताया कि वोटर अपने चारों ओर कई गैर जरूरी पूर्वाग्रहों को बना लेते हैं। विदेशियों का विरोध, बाजार के खिलाफ फैसले और रोजगार योजनाएं

ऐसे ही पूर्वाग्रहों के कुछ उदाहरण हैं। ये पूर्वाग्रह ही लोकतांत्रिक प्रक्रिया को भी असफल कर देते हैं।

2009 एलिनर ऑस्ट्रॉम को अर्थशास्त्र में दिए गए योगदान लिए नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। ऑस्ट्रॉम ने बताया कि कैसे समूह, सीमित संसाधनों को देखते हुए सामूहिक फैसले लेते हैं।

अन्य अध्ययन

परिचय

राउले चार्ल्स के (2004), जन इच्छा सिद्धांत को ऐतिहासिक नजरिए से समझने के लिए द इनसाइक्लोपीडिया ऑफ पब्लिक च्वाइस लिखी है। इसका पहला अंक जन इच्छा के विकास को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से समझने के लिए बेहतरीन है।

राउले, चार्ल्स के और फ्रीडरिच शेंडर (2008), जन इच्छा और संवैधानिक राजनीतिक अर्थशास्त्र विषय को इन तीनों लेखकों ने आसान तरीके से लोगों के सामने रखा है। जिसके जरिए उन्होंने संवैधानिक सिद्धांत और राजनीतिक मुद्दों को संबंधों को समझाने का बेहतरीन प्रयास किया है।

चार्ल्स राउले ने "पब्लिक च्वाइस एंड कॉन्सटीट्यूशनल पॉलिटिकल इकोनॉमी " लेख में बेहद पठनीय सामग्री उपलब्ध कराई है।

डेनिस मुलर की "पब्लिक च्वाइस: एक परिचय" जन इच्छा सिद्धांत के विभिन्न पीढ़ी के विचारकों के कार्यों को जानने के लिए एक पठनीय किताब है।

टुलॉक, गार्डन (1976,2006) की "द वोट मोटिव" एक उत्कृष्ट किताब है। इस किताब का बड़े पैमाने पर अनुवाद इसकी उपयोगिता बताता है। लेखकों ने इसके जरिए जन इच्छा सिद्धांत के नजरिए से वोटिंग, राजनीतिक, नौकरशाही और वोट के सौदे(लॉग रोलिंग) की व्याख्या की है। http://www.iea.org.uk/sites/default/files/publications/files/upldbook397pdf.pdf

टुलॉक , गार्डन, आर्थर सेलडन और गार्डन ब्रेडी (2002), ने "गवर्नमेंट फेल्योर: ए

प्राइमर इन पब्लिक च्वाइस" किताब लिखी है। यह किताब न केवल जन इच्छा सिद्धांत के लिए एक अहम किताब है बल्कि यह कई छोटे लेकिन अहम मुद्दों को भी लोगों के सामने रखती है। इसके तहत रेंट सीकिंग, लॉगरोलिंग, अमेरिका और यूनाइटेड किंगडम के राजनीतिक मुद्दों को जन इच्छा के नजरिए से पेश करती है।

सार

मैकलीन, लेन (1987) "पब्लिक च्वाइस: एक परिचय," एक ऐसी किताब जहां पर आप जन इच्छा के मूल सिद्धांतों जैसे उपभोक्ता के रूप में एक वोटर, वोटिंग का विरोधाभास, लॉबिंग, गठबंधन और नौकरशाही के संबंध में पूरी जानकारी कम शब्दों में ले सकते हैं।

मुलर, डेनिस सी (2003), पब्लिक च्वाइस-3 , अकादमिशियन, विश्विद्यालय के छात्रों और विशेषज्ञों को विस्तृत जानकारी लेने के लिए बेहतरीन किताब है।

आलोचक

ग्लेजर, अमीहाय और लॉरेंस रोथेनबर्ग (2005) ने बताया कि क्यों सरकारें सफल होती हैं या फिर क्यों असफल हो जाती हैं। उन्होंने सरकार की व्यवस्था पर सकारात्मक रुख लेकर उसकी कमियों को समझाने का प्रयास किया है।

हिंडमोर, एंड्रयू (2006) "रेशनल च्वाइस" एक बेहतरीन किताब है। जिसमें राजनीतिक नजरिए से जन इच्छा सिद्धांत की आलोचना की गई है।

यादगार किताबें

एरो, केनेथ (1951,1963) ने सोशल च्वाइस एंड इंडीविजुअल वैल्यूस नामक किताब लिखी है। जिसमें किसी व्यक्ति द्वारा सामाजिक पहलुओं को देखकर लिए जाने वाले फैसलों की व्याख्या की गई है। साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि एक आदर्श लोकतांत्रिक व्यवस्था बनाना असंभव है।

ब्लैक, डंकन (1958), "द थ्योरी ऑफ कमेटीज एंड इलेक्शंस" एक बेहतरीन किताब है जो राजनीति विज्ञान को समझाती है। इसके लिए वह कॉन्डरसेट और बोरडा के द्वारा दिए गए ऐतिहासिक कार्यों को साथ लेते हुए यह बताया है कि कैसे अलग-अलग वोटिंग नियम चुनाव परिणामों को बदल देते हैं।

बुकानन, जेम्स एम और गार्डन टुलॉक (1962), "द कैलकुलस ऑफ केस" एक ऐतिहासिक कृति है। हालांकि उसके सिद्धांतों को व्यवहारिक रूप से लागू करना आसान नहीं है। लेकिन फिर भी वह संविधान निर्माण, लॉगरोरिंग के असर और अपना हित साधने वाले समूह को जन इच्छा सिद्धांत के नजरिए से बेहतरीन रूप से व्याख्या करने में सफल रही है। इसके अलावा बुकानन द्वारा 1975 में लिखी गई किताब द लिमिट्स ऑफ लिबर्टी समझौते के आधार पर बनी सरकारों की सीमाओं को समझने में काफी कारगर है।

काप्लॉन और ब्रायन (2007), द्वारा लिखी गई पुस्तक "द मिथ ऑफ रेशनल वोटर" भी आधुनिक दौर की बेहतरीन कृति है। जो यह बताती है कि वोटर कैसे पक्षपाती होते हैं और उसी आधार पर वोट डालते हैं। इस किताब को वाई डेमोक्रोसीज चूसेज बैड पॉलिसीज के नाम से भी जाना जाता है।

डाउंस, एंथोनी (1957), एन इकोनॉमिक थ्योरी ऑफ डेमोक्रेसी में दोनों ने बताया है कि कैसे राजनीतिक फैसलों में लोगों के अपने हित और आर्थिक फायदे शामिल होते हैं। साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि सामूहिक फैसले कैसे लिए जाते हैं।

निशकानेन, विलियम ए. "ब्यूरोक्रेसी एंड रिप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेंट" ; (1971) और "ब्यूरोक्रेसी: सर्वेंट ऑर मॉस्टर ?" द इंस्टीट्यूट ऑफ इकोनॉमिक अफेयर्स होबार्ट के पेपर संस्करण प्रमुख किताबें हैं। यह किताबें लोक प्रशासन के विचार को आगे बढ़ाती हैं। जो कि नौकरशाही की शक्ति और उनके हितों की आलोचनात्मक व्याख्या करती है।

ऑल्सन, मैनकर (1965), "द लॉजिक ऑफ कलेक्टिव एक्शन" किताब हित साधने वाले समूहों के काम करने वाले तरीके और उनके सदस्यों को

मिलने वाले फायदे को विस्तार से समझाती है। इसी तरह वह यह भी बताती है कैसे समूह मे मौजूद बड़ा वर्ग मुफ्त फायदे लेता है। ऑल्सन की ही 1984 में आई एक किताब, "द राइज एंड डिक्लाइन ऑफ नेशंस" ने भी राजनीतिक और आर्थिक मुद्दों पर इन सिद्धांतों को लागू करती है।

राइकर, विलियम एच, (1962), "द थ्योरी ऑफ पॉलिटिकल कोअलिशनंस," किताब एक मील का पत्थर साबित हुई है। यह किताब बताती है कि चुनाव जीतने के लिए कैसे न्यूनतम गठबंधन की आवश्यकता होती है और किस आधार पर राजनीतिक दल गठबंधन बनाते हैं।

आईईए के बारे में

आईईए एक अनुसंधान और शैक्षिक न्यास (नंबर– सीसी 235351), लिमिटेड है। इसका उद्देश्य आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को हल करने में बाजारों की भूमिका का विश्लेषण और विस्तार के द्वारा मुक्त समाज में मौजूदा संवैधानिक संस्थानों की कार्यपद्धति की समझ को बढ़ाना।

द इंस्टीट्यूट ऑफ इकोनॉमिक अफेयर्स अपने इस लक्ष्य को पाने के लिए ये प्रयास करता है-

- उच्च गुणवत्ता वाले प्रकाशन के क्षेत्र में काम करना
- सेमिनार, कांफ्रेंस, व्याख्यान सहित दूसरे कार्यक्रमों का आयोजन
- स्कूल और कॉलेज के छात्रों के बीच अपनी पहुंच बनाना
- मीडिया के साथ भागीदारी

द इंस्टीट्यूट ऑफ इकोनॉमिक अफेयर्स की स्थापना 1955 में स्वर्गीय सर एंटोनी फिशर के द्वारा एक शैक्षणिक न्यास के रूप में किया गया था। यह एक गैर राजनीतिक संगठन है। यह किसी भी तरह के राजनीतिक दल या समूह से कोई संबंध नहीं रखता है। साथ ही यह ऐसी कोई गतिविधि जो किसी राजनीतिक दल या चुनाव, जनमत में किसी उम्मीदवार को फायदा पहुंचाती है, तो वह उसमें भी शामिल नहीं होता है। संस्थान प्रकाशन, कांफ्रेंस शुल्क और स्वैच्छिक दान से अपनी आर्थिक जरूरतें पूरी करता है।

इसके अलावा आईईए एक निश्चित अंतराल पर अपना जर्नल इकोनॉमिक अफेयर्स भी प्रकाशित करता रहता है।

आईईए को दुनिया की प्रमुख अकादमी सलाहकार परिषद और प्रबुद्ध फेलो के जरिए भी आर्थिक सहायता मिलती है। दूसरे अकादमीशियन के साथ ये प्रबुद्ध लोग आईईए से होने वाले प्रकाशन की समीक्षा भी करते हैं। उनके विचारों को लेखकों की आम सहमति लेने के बाद ही इस्तेमाल किया जाता है। आईईए के सभी पेपर इसी कठिन और स्वतंत्र प्रक्रिया के जरिए मंजूर किए जाते हैं। जिसका अग्रणी संस्थान अपने जर्नल में इस्तेमाल करते हैं।

इसके अलावा आईईए के प्रकाशन स्कूल और विश्वविद्यालयों में भी बड़ी संख्या में पढ़ाए जाते हैं। जिनकी पूरी दुनिया में बिक्री की जाती है और प्रायः उनके अनुवाद और दोबारा प्रिटिंग भी किये जाते हैं।

आईईए 1974 से 70 देशों में इसी तरह की 100 संस्थानों के विकास में भी सहयोग करता है। यह सभी संस्थान पूरी तरह से स्वतंत्र हैं, लेकिन वह आईईए के उद्देश्यों को लागू करने में साझेदारी करते हैं।

आईईए के प्रकाशन में प्रकाशित लेखों में प्रस्तुत विचार लेखकों के अपने विचार होते हैं, न कि संस्था, उसके संरक्षकों और अकादमिक सलाहकार परिषद या किसी वरिष्ठ कर्मचारी के।

संस्था के अकादमिक सलाहकार परिषद, माननीय अध्येताओं, न्यासियों और कर्मचारियों के नाम नीचे के पृष्ठ पर दिये गए हैं।

संस्थान स्वर्गीय एलेक और बेरिल वॉरेन का विशेष रूप से आभार प्रकट करता है, जिन्होंने संस्थान के प्रकाशन और दूसरे कामों के लिए वित्तीय मदद की है।

द इंस्टीट्यूट ऑफ इकोनॉमिक अफेयर्स
2, लॉर्ड नॉर्थस्ट्रीट, वेस्टमिनस्टर, लंदन एसडब्ल्यू1पी3एलबी
टेलीफोन: 020 7799 8900
फैक्स: 020 7799 2137
ईमेल: iea@iea.org.uk
इंटरनेट: iea.org.uk

डायरेक्टर जनरल एंड राल्फ हैरिस फेलो मार्क लिटिलवुड

एडिटोरियल डायरेक्टर प्रोफेसर फिलिप बूथ

मैनेजिंग ट्रस्टीज

चेयरमैन: प्रोफेसर डी आर मिडिलटन

केविन बेल
रॉबर्ट बॉयड
माइकल फिशर
माइकल हिंट्ज
प्रोफेसर पैट्रिक मिनफोर्ड
प्रोफेसर मार्क पेनिनटन
नील रिकॉर्ड
प्रोफेसर मार्टिन रिकेट्स
लिंडा वेटस्टोन

अकादमिक सलाहकार परिषद

चेयरमैन: प्रोफेसर मार्टिन रिकेट्स

ग्राहम बैननॉक
डॉ रोज बेट
प्रोफेसर अलबर्टो बेनीगास लिंच जूनियर
प्रोफेसर डोनॉलड जे बॉडरेक्स
प्रोफेसर जॉन बर्टन
प्रोफेसर फॉरेस्ट कैपी
प्रोफेसर स्टीवेन एन.एस. चेंग
प्रोफेसर टिम कॉगन्डन
प्रोफेसर एन एफ आर क्रॉफ्ट्स
प्रोफेसर डेविड डे मेजा
प्रोफेसर केविन डाउड
प्रोफेसर रिचर्ड ए एपस्टीन
नाइजल एसेक्स
प्रोफेसर डेविड ग्रीनअवे
डॉ इनग्रीड ए ग्रेग
वॉल्टर इ ग्राइंडर
प्रोफेसर स्टीव एच.हैंक
प्रोफेसर कीथ हार्ट्ले
प्रोफेसर डेविड हेंडरसन
प्रोफेसर पीटर एम जैक्सन
डॉ जेरी जॉर्डन
डॉ एलीन मार्शल
प्रोफेसर एंटोनियो मार्टिनो
डॉ जॉनमीडोक्रॉफ्ट
डॉ अंजा मर्ज
प्रोफेसर जुलियन मोरिस
प्रोफेसर एलन मॉरिसन
पॉल ऑर्मर्ड
प्रोफेसर डेविड पार्कर
प्रोफेसर विक्टोरिया कर्जन प्राइस
प्रोफेसर कॉलिन रॉबिन्सन
प्रोफेसर चार्ल्स के राउले
प्रोफेसर पास्कल सेलिन
डॉ रजीन सैली
प्रोफेसर पेड्रो स्कवॉर्ट्ज
प्रोफेसर जे आर शैकेल्टन
जेन एस.शॉ
प्रोफेसर डब्ल्यू स्टैनले साइबर्ट
डॉ एलेन स्टर्नबर्ग
प्रोफेसर जेम्स टुली
प्रोफेसर निकोला टायनेन
प्रोफेसर रोनॉल्ड वॉबेल

डॉ लाइन किसलिंग
प्रोफेसर डेनियल बी क्लेन
प्रोफेसर चैड्रन कुकाथास
डॉ टिम लुइंग
प्रोफेसर स्टीफेन सी लिटिलचाइल्ड
डॉ सेंटो वेलजॉनोवेस्की
प्रोफेसर लॉरेंस एच.व्हाइट
प्रोफेसर वॉल्टर ई विलियम्स
प्रोफेसर जेफरी ई वुड

मानद फैलो

प्रोफेसर आरमेन ए अलचाइन
प्रोफेसर माइकल बेनस्टॉक
सर सैमुअल ब्रिटॉन
प्रोफेसर जेम्स एम बुकानन
प्रोफेसर रोनॉल्ड एच कोजे
प्रोफेसर डेविड लाइडलर
प्रोफेसर शिआकी निशियामा
प्रोफेसर सर एलन पीकॉक
प्रोफेसर अन्ना जे स्कावर्ट्ज
प्रोफेसर वेरनॉन एल स्मिथ
प्रोफेसर गॉर्डन टुलॉक
प्रोफेसर बासिल एस.यामले

आईईए द्वारा हाल ही में प्रकाशित किए गए अन्य पेपर

द लीगल फाउंडेशंस ऑफ फ्री मार्केट्स
संपादन- स्टीफेन एफ.कॉप
होबार्ट पेपरबैक 36; आईएसबीएन 978 0 255 36591 8; £15

क्लाइमेट चेंज पॉलिसी: चैलेंजिंग द एक्टिविस्ट्स
संपादन – कॉलिन रॉबिन्सन
रीडिंग 62; आईएसबीएन 978 0 255 36595 6 ; £10

शुड वी माइंड द गैप ?
जेंडर पे डिफ्रेंशियल्स एंड पब्लिक पॉलिसी
जे.आर.शैकेल्टन
होबॉर्ट पेपर 164; आईएसबीएन 978 0 255 36605 5; £10

पेंशन प्रॉविजन: गवर्नमेंट फेल्योर अराउंड द वर्ल्ड
संपादन: फिलिप बूथ और अन्य
रीडिंग्स 63; आईएसबीएन 978 0 255 36602 1; £15

न्यू यूरोप ओल्ड रीजन्स
पिओत्र जेनतारा
होबार्ट पेपर 165; आईएसबीएन 978 0 255 36617 5; £12.50

सेंट्रल बैंकिंग इन ए फ्री सोसायटी
टिम कांगडन
होबार्ट पेपर 166; आईएसबीएन 978 0 255 36623 6; £12.50

वर्डिक्ट ऑन द कैश: कॉजेज एंड पॉलिसी इम्प्लीकेशंस
संपादन: फिलिप बूथ
होबार्ट पेपर बैक 37; आईएसबीएन 978 0 255 36635 9;£12.50

द यूरोपीयन इंस्टीट्यूशंस एज एन इंटरेस्ट ग्रुप
द डायनमिक्स ऑफ एवर-क्लोजर यूनियन
रोनॉल्ड वैल्यूबल
होबार्ट पेपर 167; आईएसबीएन 978 0 255 36634 2; £10.00

एन एडल्ट एप्रोच टू एजुकेशन
एलिसन वूल्फ
होबार्ट पेपर 168; आईएसबीएन 978 0 255 36586 4; £10.00

टैक्सेशन एंड रेड टेप
द कॉस्ट टू ब्रिटिश बिज़नेस ऑफ कम्पलाइंग विद द यूके टैक्स सिस्टम
फ्रांसिस चिटेनडेन, हिलेरी फोस्टर एंड ब्रॉयन स्लोअन
रिसर्च लेख 64; आईएसबीन 978 0 255 36612 0; £12.50

लुडविग वॉन मिसेज- ए प्राइमर
ऐमॉन बटलर
विशेष लेख 143; आईएसबीएन 978 0 255 36629 8; £7.50

डज़ ब्रिटेन नीड ए फाइनेंसियल रेग्युलेटर?
स्टेच्युटरी रेग्युलेशंस, प्राइवेट रेग्युलेशंस एंड फाइनेंसियल मार्केट्स
टेरी ऑर्थर और फिलिप बूथ
होबार्ट पेपर 169; आईएसबीएन 978 0 255 36593 2; £12.50

हाईक द कॉन्सटीट्यूशन ऑफ लिबर्टी
एन अकाउंट ऑफ इट्स ऑर्गयूमेंट
यूजीन ई मिलर
विशेष लेख 144; आईएसबीएन 978 0 255 36637 3; £12.50

फेयर ट्रेड विदआउट द फोर्थ
"फेयर ट्रेड" का निष्पक्ष आर्थिक विश्लेषण
सुशील मोहन
होबार्ट पेपर 170; आईएसबीएन 978 0 255 36645 8; £10.00

ए न्यू अंडरस्टैण्डिंग ऑफ पॉवर्टी
पॉवर्टी मेज़रमेंट एंड पॉलिसी इम्प्लिकेशंस
क्रिस्टियन नाईमिट्ज
रिसर्च लेख 65; आईएसबीएन 978 0 255 36638 0; £12.50

द चैलेंज ऑफ इमीग्रेशन
ए रेडिकल सॉल्यूशन
गैरी एस.बेकर
रिसर्च लेख 145; आईएसबीएन 978 0 255 36613 7; £7.50

शार्पर एक्सेज, लोअर टैक्सेज
छोटे राज्यों के लिए बड़ा कदम
संपादन: फिलिप बूथ
होबार्ट पेपरबैक 38; ISBN 978 0 255 36648 9; £12.50

सेल्फ एम्प्लॉयमेंट, स्मॉल फर्म एंड एंटरप्राइज
पीटर उर्विन
अनुसंधान लेख 66; आईएसबीएन 978 0 255 36610 6; £12.50

क्राइसिस ऑफ गवर्मेंट्स
द ऑनगोईग ग्लोबल फाइनेंसियल क्राइसिस एंड रिसेशन
रॉबर्ट बैरो
विशेष लेख 146; आईएसबीएन 978 0 255 36657 1; £7.50

...एंड द परस्यु ऑफ हैप्पीनेस
वेलबीइंग एंड द रोल ऑफ गवर्मेंट
संपादक: फिलिप बूथ
रीडिंग्स 64 ; आईएसबीएन 978 0 255 36656 4; £12.50

आईईए के अन्य प्रकाशन

आईईए के अन्य प्रकाशन और उसके काम के बारे में विस्तृत जानकारी www.iea.org.uk. पर प्राप्त की जा सकती है। किसी भी किताब या दूसरे प्रकाशन को व्यक्तिगत रुप से नीचे दिए गए पते से मंगाया जा सकता है।

पर्सनल कस्टमर्स

किताबों की खरीदारी के लिए सभी आर्डर आईईए के जरिए मंगाए जाएंगे
आईईए
क्लेयर रसब्रिज
आईईए
2 लॉर्ड नॉर्थ स्ट्रीट
फ्रीपोस्ट लन 10168
लंदन एसडब्ल्यू 1पी3 वाई जेड
टेलीफोन 020 7799 8907
फैक्स: 020 7799 2137
ई-मेल: crusbridge@iea.org.uk

ट्रेड कस्टमर

किताबों की खरीदारी के लिए सभी आर्डर आईईए के जरिए मंगाए जाएंगे
डिस्ट्रीब्यूटर: गैजेली बुक सर्विस लिमिटेड(आईईए ऑर्डर)
फ्रीपोस्ट आरएलवाईएस-ईएएचयू-वाईएससीजेड
व्हाइट क्रॉस मिल्स
हाईटाउन
लैंचेस्टर 1ए14एक्सएस
टेलीफोन: 01524 68765
फैक्स: 01524 53232
ईमेल: sales@gazellebooks.co.uk

आईईए सब्सक्रिप्शन

आईईए अपने प्रकाशित पुस्तकों आदि के लिए सब्सक्रिपशन का ऑफर भी देता है। इसके लिए एक साल का सब्सक्रिपशन पाने के लिए एकमुश्त 42 पाउंड का भुगतान करना होगा। सब्सक्रिप्शन धारक को आईईए द्वारा प्रकाशित सभी लेख प्रदान किए जाएंगे। इस संबंध में अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें-

क्लेयर रसब्रिज
आईईए
2 लॉर्ड नॉर्थ स्ट्रीट
फ्रीपोस्ट लन 10168
लंदन एसडब्ल्यू 1पी3 वाई जेड
टेलीफोन 020 7799 8907
फैक्स: 020 7799 2137

सेंटर फॉर सिविल सोसायटी

सेंटर फॉर सिविल सोसायटी (सीसीएस) एक पब्लिक पॉलिसी थिंक टैंक है। यह प्रमुख रूप से व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्वतंत्रता को बढ़ावा देने के लिए काम करता है। अपने प्रयासों के जरिए हम एक ऐसी बौद्धिक क्रांति के लिए लोगों को प्रोत्साहित करना चाहते हैं, जिससे लोग अवश्यंभावी चीजों के इतर देख सकें, अच्छी नियत के आगे सोच सकें और एक्टिविज्म से आगे बढ़कर काम कर सकें। हम विकल्प, प्रतिस्पर्धा और समुदाय आधारित नीतिगत सुधार के कार्यों को प्रोत्साहित करते हैं। सेंटर फॉर सिविल सोसायटी अनुसंधान, नीतियों की वकालत और लोगों तक पहुंच बढ़ाकर नागरिक समाज में नई ऊर्जा का संचार करना चाहता है, साथ ही राजनीतिक समाज को भी उसी आधार पर बदलाव करने के लिए प्रोत्साहित करने कोशिश कर रहा है।

हम प्रत्येक व्यक्ति की निजता, प्रतिष्ठा और उनके जीने के अधिकार, आज़ादी और प्रसन्नता को बढ़ावा देने में विश्वास रखते हैं। हम नागरिकों के द्वारा अपनी इच्छा से वोट देने और बाजार में पैसे खर्च करने के फैसले पर विश्वास और उसका सम्मान करते है। हम एक ऐसे मुक्त समाज के निर्माण का सपना देखते हैं जहां लोगों के पास राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता का अधिकार हो। हम दूसरे स्वतंत्रता संग्राम के सिपाही हैं। सीसीएस के कार्यों में अनुसंधान, लोगों तक पहुंच, कानून, आज़ादी और आजीविका के लिये वकालत (एडवोकेसी); समुदायों, बाजार और पर्यावरण; सुशासन और सबके लिये शिक्षा आदि शामिल हैं। वेबसाइट- www.ccs.in

नेटवर्क फॉर ए फ्री सोसायटी

हम स्वतंत्रता की रचनात्मक शक्ति और उसके द्वारा लाई गई समृद्धि में अथक विश्वास रखते हैं। स्वतंत्रता का अर्थ है कि हम में से प्रत्येक दूसरों के हस्तक्षेप क बिना कार्य करने के लिए स्वतंत्र है जबतक कि हमारे कार्य दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप न करें। इसके लिये सहिष्णुता और स्वतंत्रता की रक्षा करने वाली सरकार, दोनों की आवश्यकता पड़ती है।

सरकार को सीमित होना चाहिए लेकिन यदि हमें स्वतंत्र रहना है तो सरकार को हमें कानून का राज्य और प्रभावकारी न्यायपालिका, निजी संपत्ति का अधिकार, मुक्त बाजार और बोलने की आज़ादी अवश्य सुनिश्चित करनी चाहिए।

यह बार बार सिद्ध हो चुका है कि स्वतंत्रता समृद्धि को बढ़ावा देती है। मुक्त समाज और कम मुक्त समाज में से कौन सा समाज लोगों के जीवन को बेहतर बनाता है और उन्हें मुफलिसी से बाहर निकालता है, इसके लिये लोगों को नॉर्थ कोरिया और साउथ कोरिया और ईस्ट व वेस्ट जर्मनी का उदाहरण देखना चाहिए।

आंकड़ों के मुताबिक भी आर्थिक स्वतंत्रता न केवल उच्च आय के स्तर को हासिल करने में सफल साबित हुआ है बल्कि अन्य सकारात्मक परिणाम लाने में भी आर्थिक रूप से कम स्वतंत्र देशों से बेहतर साबित हुआ है। यह लोकतांत्रिक सरकारों के लिए भी आवश्यक शर्त है। वेबसाइट -www.freetheworld.com

iea

द इंस्टीट्यूट ऑफ इकोनॉमिक अफेयर्स
2 लॉर्ड नॉर्थ स्ट्रीट, वेस्टमिस्टर
लंदन, एस डब्ल्यू 1पी3 एलबी
टेलीफोन- +44(0) 2077998900
फैक्स- +44(0) 2077992137
ई-मेल- iea@iea.org.uk
इंटरनेट- iea.org.uk

Centre for CIVIL SOCIETY
Social Change through Public Policy

सेंटर फॉर सिविल सोसायटी
ए-69 हौजखास
नई दिल्ली 110016
वॉयस- +91 11 2653 7456
फैक्स- +91 11 26512347
ई-मेल- ccs@ccs.in
वेब- www.ccs.in

NETWORK FOR A FREE SOCIETY

नेटवर्क फॉर ए फ्री सोसायटी
बेस्सेट्स मेनर, बूचरफील्ड एलएन
हार्टफील्ड, टीएन7 4एलए,
यूनाइटेड किंगडम
फोनः +44 1892770304
www.networkforafreesociety.org

सार्वजनिक चयन: एक प्रारंभिका

एमॉन बटलर

"बाजार की असफलता" शब्दावली का ज्यादातर इस्तेमाल राजनेता, पत्रकार, विश्वविद्यालय और अर्थशास्त्र के उच्च श्रेणी के छात्र और शिक्षक करते हैं। हालांकि जो लोग इस शब्दावली का इस्तेमाल करते हैं, प्रायः उन्हें इस बात की बिल्कुल समझ नहीं होती है कि सरकार के पास इस संकट को दूर करने की कितनी क्षमता है। ऐसा मुख्य रूप से सामान्य ज्ञान की कमी और सार्वजनिक चयन वाले अर्थशास्त्र के प्रति अनभिज्ञता के कारण होता है। इसकी वजह से सामान्य बातों और आर्थिक मुद्दों को वह सार्वजनिक चयन सिद्धांत के नजरिए से नहीं देख पाते हैं।

सार्वजनिक चयन अर्थशास्त्र सरकार के काम-काज के तरीकों में मानव व्यवहार के वास्तविक दृष्टिकोणों को शामिल करता है, और यह दृष्टिकोण उन लोगों के लिए बहुत फायदेमंद है, जो लोकनीतियों के मुद्दों पर काम करते हैं या रुचि रखते हैं। मान लें कि राजनैतिक प्रक्रिया में शामिल जन प्रतिनिधियों, वोटरों, नौकरशाहों, नियामकों और सरकारी कर्मचारियों में से महज कुछ लोग भी जनता के हित की जगह अपने हित के लिए काम करते हैं तो सरकार द्वारा बाजार की असफलता को दूर करने का भरोसा बहुत कम बचेगा।

एमॉन बटलर ने इस जटिल आर्थिक प्रक्रिया को बहुत ही बेहतरीन तरीके से अपने पुस्तक में पेश किया है। लेखक ने पाठकों को यह समझाने की कोशिश की है कि बाजार की अफसलता को दूर करने में सरकार की भी कुछ सीमाएं होती है। साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि कैसे मौजूदा राजनीतिक प्रक्रिया के प्रारूप को तय करने में सार्वजनिक चयन अर्थशास्त्र सहायक साबित हो सकता है। यह विषय समकालीन राजनैतिक विमर्श को अत्यधिक प्रासंगिक बनाता है।

यह पुस्तक उन सभी लोगों को एक बेहतरीन सामग्री उपलब्ध कराती है, जो जन हित वाली आर्थिक नीति में सरकार की भूमिका को कैसे बेहतर बनाया जाए, उसे समझना चाहते हैं।

Cover design: B R I L L
Cover photograph: EdStock